प्रकाशक—

कुमार देवेन्द्रप्रसाद

प्रेममन्दिर, आरा।

मूल्य ॥)

द्वितीय संस्करण १९१९

२०१० कापी

मुद्रक,
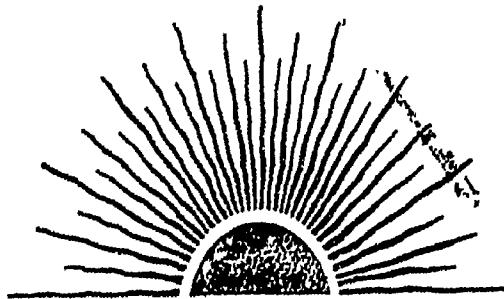
श्री अपूर्वकृष्ण बोस

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

* मंगलाचरण *

श्रीपति श्रीधर सिद्धिवर, करम भरम हरतार।
जयति जयति भगवन्त जिन, ज्ञान-पयोनिधि सार।
भारतदेवी सबै मिलि, करत नमन कर जोर।
देहु ज्ञान चातुर्य्यहू, मिटै दु:ख घनघोर।
धर्म्म धान्य-धन सब गयो, बढ्यो स्वार्थ जलखार।
डूबत तें तारो प्रभो, वेग करो उद्धार।
रतन-माल सौभाग्य की, बाला कण्ठहिं धार।
धर्म्म कर्म विद्या बढ़ै, यह पुस्तक को सार॥
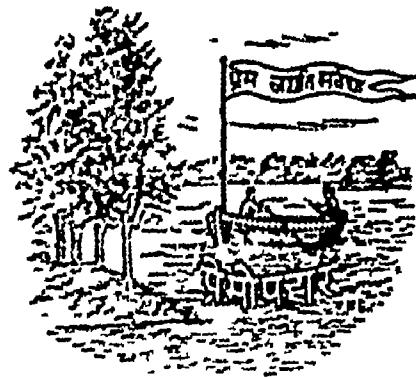
श्रीमती

सौभाग्यवती स्वर्गीया

श्रीकान्ताकुमारी देवीजी

धर्म्म-पत्नी श्रीयुत कुमार देवेन्द्रप्रसादजी

के

शिष्य-प्रेमद्रवित अदृश्य कर कमलों में,

सादर समर्पित

—चन्दाबाई जैन

रत्न-सूची

भूमिका

प्रिय पाठिका बहिनो एवं बन्धुओ !

यह बात विदित ही है कि भारतवर्ष मे स्त्री शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तको की अत्यन्त कमी है। उसमे भी हिन्दी-भाषा में तो अभाव सा ही प्रतीत होता है।

ऐसी अवस्था में प्रत्येक विदुषी बहिन का एवं विद्वान् बन्धु का कर्त्तव्य है कि प्रत्येक विषय की पुस्तकें लिखकर स्त्री-शिक्षा के भण्डार को भरें।

इसी अभाव के किसी सूक्ष्मांश की पूर्ति में किञ्चित् साहाय्य स्वरूप यह "सौभाग्य-रत्न-माला" पुस्तक बहिनो के हितार्थ प्रकाशित की जाती है।

इस पुस्तक में उन बातों का वर्णन किया गया है जो कि मनुष्य के अभ्यासो पर निर्भर है। और जिनकी ओर ध्यान देने से बहुत कुछ जीवनसुधार हो सकता है।

प्रथम पुष्प "उपदेशरत्न-माला" में बाला-पुत्रियों के लिये उपदेश लिखे गये हैं, इन पुत्रियों से अधिक वयस वाली बहिनों के सुधारार्थ इस पुस्तक में सत्सङ्गति, पातिव्रत, इत्यादि विषय लिखे हैं।

आशा है कि कन्याशालाओं में क्रमशः ये दोनों पुस्तकें पढाई जावेंगी तो हिन्दी-भाषा का ज्ञान तथा उच्च उद्देश्य की भावना पुत्रियों के हृदय में अवश्य हो जायगी।

यह पुस्तक बहुत सरल होने पर भी इसमें कठिन शब्द तथा जहां तहां संस्कृत के कुछ वाक्य इस हेतु लिख दिये गये हैं कि जिससे कन्याओं की गति शब्दार्थ समझने में प्रसर हो जावे।

पाठिका महाशयाओं को उचित है कि इसके शब्दों का अर्थ बालिकाओं को भली प्रकार समझावें और लिखा कर सज्ञान कण्ठस्थ करावें, जिससे अन्य ग्रन्थों के पढ़ने में फिर पुत्रियों को शब्दार्थ समझने में कष्ट न करना पड़े।

इस पुस्तक के विषयों का भावार्थ याद कराकर संक्षेप में लिखवाना चाहिये, जिससे पुत्रियों को लेखरचना का अभ्यास हो जावे।

मैंने अपनी छोटी अवस्था में प्राप्त हुये अनुभव के अनुसार इस पुस्तक में स्त्रियोपयोगी विषय लिखे हैं। आशा है कि मेरी बहिनें इस पुस्तक को पढ़ कर अवश्य कुछ लाभ उठाएँगी तथा पुनः इस सेवा के लिये मुझे उत्तेजित करती रहेंगी जिससे मैं मातृभाषा की कुछ सेवा करती हुई बहिनों के लिये नवीन नवीन भेंट तैयार कर सकूँ।

आषाढ़ शुक्ल १
सं० १९७५
ता० ९ जुलाई
सन् १९१८

शुभचिन्तिका,
—चन्दाबाई जैन

दूसरा संस्करण।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरी यह छोटी सी भेंट बहिनों को अवश्य रुचिकर हुई होगी, पाठिका महाशयाओं की प्रबल रुचि ने ही मुझे द्वितीय संस्करण निकालने के लिए उत्तेजित किया है।

इसी वर्ष के गत आषाढ मास में प्रथम संस्करण निकला था और अब यह दूसरी बार पुन. छपकर बहिनों की सेवा में उपस्थित है। प्रथम जिन जिन बहिनों ने इस पुस्तक को अपनाया है एवं इसके विषय में अपनी सम्मति दी है उनको मैं हृदय से धन्यवाद देती हूँ।

मैं उन महानुभावो समालोचको की विशेष कृतज्ञा हूँ जिन्होंने बड़े ललित एवं सुयोग्य शब्दों में प्रथम संस्करण की समालोचना की है और अपनी अपनी अमूल्य सम्मति देकर इसका गौरव बढाया है।
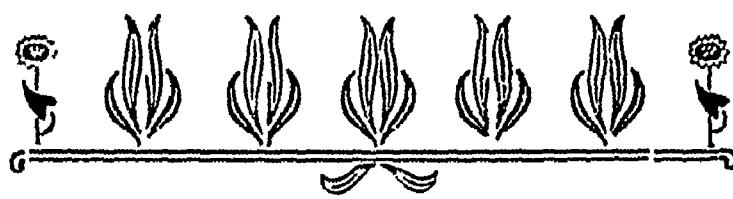
समस्त समालोचक महाशयो के वाक्यों पर बहुत ध्यान देने और खोज करने पर दो बातें मिलीं। एक श्रीयुत 'सरस्वती' सम्पादक ने 'ब्रह्मचर्य' के विषय में शब्द-पुनरावृत्ति बतलाई थी।

उसको दूर करने का भरशक प्रयत्न किया गया है।

दूसरे श्रीयुक्त पण्डित जुगलकिशोरजी ने पुस्तक के नाम में अर्थ का असमावेश बतलाया था, परन्तु इस त्रुटि के दूर करने में मैं असमर्थ हुई। यहाँ पर "यथा नाम तथा गुण" इस लक्षण को गौण करके आशीर्वादात्मक नाम मान कर पाठक-पाठिका-गण क्षमा करें, और पुन नवीन सेवा के लिए मुझे उत्साहित करें।

आरा
ज्येष्ठ शुक्ल ३ सं० १९७५
ता० १ जून सन् १९१९

शुभ-चिन्तिका
—चन्दाबाई जैन

सत्य ।

मनुष्य में सच्चाई का रहना एक परम गुण है। केवल धर्म के लिये ही नहीं, वरन् संसार के समस्त कार्य्यों का यथेष्ट सम्पादन करने के लिये इसकी आवश्यकता है।

यदि मनुष्य अपने नित्यप्रति के व्यवहार को सरल रखकर प्रत्येक कार्य्य को सत्य हृदय से करें तो यह गुण मनुष्य में आश्रय पा सकता है—इससे विपरीत यदि छल कपट करने का अभ्यास हो या स्वार्थी और संकुचित हृदय रक्खा जाय तो मनुष्य कभी भी सत्यगुण से भूषित नहीं हो सक्ता।

जिस प्रकार किसी एक अनेक पुष्पित वृक्षों से भरे वन में कोई बटोही जा पहुँचे तो गन्ध-रहित पुष्प वाले वृक्षों का परिचय करना उसके लिये कठिन होता है। प्रत्येक वृक्ष के समीप जाकर तथा एक एक का निरीक्षण किये विना पता नहीं लग सकता, परन्तु उसी बटोही को चमेली गुलाबादि जो सुगन्धित

पुष्प हैं उनका परिचय बहुत दूर से ही हो जाता है, उनकी मधुर गन्ध उसको चिर-परिचित के समान अपना लेती है। उसी प्रकार सच्चे मनुष्य का विश्वास पृथ्वी पर इतना प्रभाव डाल देता है, कि गाँववाले, गली मुहल्लेवाले, शहरवाले तथा देशी विदेशी सभी जन उस मनुष्य को आदर की दृष्टि से देखने लगते हैं। जो मनुष्य कभी का परिचित नहीं है वह भी एक बार मिलने से ही बन्धु समान विश्वास करने लगता है। यह अनुभव-सिद्ध बात है कि सत्य-प्रिय मनुष्य समस्त समाज मे देवता तुल्य गौरव की दृष्टि से देखा जाता है तथा कदापि अपवादादि का पात्र नहीं होता है।

बहुत से मनुष्य ऐसा विचार करते हैं कि कोई बड़ी झूठ न बोलनी चाहिये या कोई दूसरे के लिये झूठा झगडा न रचना चाहिये, किन्तु घर मे कुटुम्बियों के साथ या बाल-बच्चों के साथ झूठ-सच कहने में क्या हानि है। परन्तु यह बात मिथ्या है. सच्चा मनुष्य वही है जो घर-बाहर, शत्रु-मित्र किसी के साथ भी दगा नहीं करता, हँसी-मजाक—खेल-कूद किसी विषय में भी जिसका चित्त असत्य की ओर नहीं झुकता। वही इस व्रत का पालन कर सकता है तथा उसी का प्रभाव अन्यान्य प्राणियों पर भी पड सकता है।

यह सत्य गुण बिलकुल ऊपरी शिक्षा पर ही निर्भर नहीं है वरन् सत्कर्मोदय भी इसमें निमित्त कारण है जो प्राय देखने में आता है कि स्वभाव से सच्चा है वही जन्मभर इसका पालन भी

करता है परन्तु तो भी विशेषत. माता पिता की शिक्षा पर ही निर्भर है। जिस मनुष्य के माता-पिता कपटी-झूठे होते हैं उसका सत्य-स्वभावी होना अत्यन्त कठिन है। बालक छोटी अवस्था में निरन्तर अनुभव-शक्ति को बढ़ाता रहता है। वैद्यक शास्त्रों से व बड़े बडे डाक्टरों की सम्मति से यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध हो चुकी है कि ऊपरी वस्तुओं का प्रभाव बाल्यावस्था में जितना पडता है, उतना बडे होने पर नहीं। बच्चा शरीर में तथा ज्ञान में, सब बातो में, जो वृद्धि एक वर्ष में करता है वह उससे कम दूसरे वर्ष मे करता है और इसी प्रकार ज्यो ज्यों बढता जाता है, उत्तरोत्तर वृद्धि और कमती होती जाती है। तथा स्वय का अनुभव भी धीरे २ होने लगता है, परन्तु जब तक कि २० वर्ष का न हो जावे, परवस्तु से बहुत सहायता लेता रहता है, माता-पिता का साथ अधिक रहने के कारण माता-पिता का प्रभाव विशेष पडता है। वरन् पिता की अपेक्षा बालक का अधिक सम्बन्ध माता से रहता है, इसलिये उसके स्वभावानु-कूल होना अत्यावश्यक हो जाता है। ऐसी अवस्था मे हमारी भारत-भगिनिया बडी असावधानी करती हैं। बहुधा बहिने कहा करती हैं कि बच्चो से झूठ न बोला जाय तो काम ही नहीं चलता, जैसे कि बालक कोई चीज खाने को मांगता हो और उसको न देनी हो तो बहाना बनाना ही पड़ता है इत्यादि इत्यादि। परन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि यह बात बिलकुल निर्मूल है। जब बच्चा जानता है कि मेरी माता असत्य बोलती

है, एक बार कहती है कि अमुक वस्तु नहीं है फिर उसी चीज को देती है, एक स्थान को जाने के लिये मना करती है, फिर उसी स्थान को जाती है। ऐसे चरित्रों से बालक तत्काल समझ जाता है कि माता झूठ बोलती है, बस फिर क्या है ? यदि कोई बात सत्य भी कही जावे तो बच्चा असत्य ही मानता है, प्रत्येक वस्तु के लिये रोता झगड़ता रहता है। माता एक मुख से सौ बार किसी वस्तु के लिये मना करती है तो भी विश्वास नहीं करता।

इसी प्रकार बहुत सी माताएँ और भी अनेक गुप्त बातें बच्चों के सम्मुख किया करती हैं। यह समझ कर कि यह क्या समझेगा परन्तु यह बात भी ग़लत है चाहे बालक को पिछली बातें स्मरण न रहें तो भी उनका प्रभाव भली भांति पड जाता है। इन बातो की झलक जन्म भर बनी रहती है।

इसके विपरीत जो विदुषी माताएँ हैं, वे अपने बच्चे के सामने कभी असत्य-भाषण नहीं करतीं। जो बात एक बार मुख से बच्चे के सामने निकल जाती है उसका ध्यान भली भांति रख कर कार्य करती हैं। उनके बच्चे कदापि उन्हे नहीं सताते। जिस वस्तु के लिये मना कर देती हैं फिर उसके लिये दंगा नहीं करते। जान जाते हैं कि यह चीज अब नहीं मिलेगी। माता जिस चीज़ के लिये स्वीकृति दे देती है उसके लिये वे संतोष कर लेते हैं, माता सत्यभाषिणी है जो कहती है वह

अवश्य करती है, ऐसे अभ्यास से उन्हें फिर उस वस्तु की चिन्ता नहीं रहती।

इसी तरह विचारशील माताएँ कोई भी अनुचित व्यवहार बच्चे के सम्मुख नहीं करतीं, इससे उनके बच्चे सदा साधु रहते हैं।

मनुष्य का जीवन सुखमय तभी हो सकता है, जब कि वह प्रारम्भ से ही सुशिक्षित ढाचे में ढाला जावे।

सहस्र भण्डार भरे रहने तथा अनेक आज्ञा ऐश्वर्य्य होने पर भी कपटी मनुष्य को यह आनन्द नहीं आता जो कि सत्य-जीवन मे आता है। सत्यता बड़ी भारी मन्त्र है। यही मन्त्र जादू है। सत्यभाषी एक बार जो वचन कह देता है वह मन्त्र रूप हो जाता है। सैकडों वर्षों तक उस वचन से मनुष्यों का विष उतरता रहता है, वशीकरण होता रहता है। सत्यवादी आत्मा का प्रत्येक व्यवहार सच्चा होता है। समय पाकर, भय से या फजीता होने के कारण सच्चा वर्ताव करना सत्यता नहीं है। वरन विना कारण ही सत्य-प्रिय होना ठीक है। जो मनुष्य प्रातःकाल से उठकर रात्रि तक अपने प्रत्येक कार्य में सीधा सच्चा भाव रखता है वह मनुष्य नहीं, देवता है। उसके सब काम बड़ी सरलता से हो जाते हैं।

सत्य हृदय मनुष्य को सर्वत्र गुण ही दिखाई देते हैं। वह किसी मनुष्य में एकाएक अवगुण नहीं निकालता। यह कभी किसी की चुगली या निन्दा में भाग नहीं लेता, इसी कारण

अति सुखी रहता है। कहावत भी है कि "अपने जी से जानिये पराये जी का हाल।"

जो मनुष्य व्यर्थ ही अन्य लोगों की चुगली किया करते हैं, जानना चाहिए कि वे स्वयं भी पवित्र-हृदय नहीं हैं।

हमारी बहिनें भी निन्दा करने में बहुत बढ़ी हुई हैं। कोई विदेशी मनुष्य या कैसा ही अपरिचित मनुष्य ही क्यों न आवे, जब तक उससे कुछ घर की, बाहर की, पञ्चायत की बुराई न कह लेंगी, तब तक उसका पूरा अतिथि-सत्कार ही नहीं समझतीं।

भोली स्त्रियाँ नहीं समझतीं कि इससे हमारा कितना अपकार होता है। हमारे कलुषित हृदय का पता लगने पर आगन्तुक के कितने भाव बदल जाते हैं। मनुष्य में सबसे उत्तम धन एक सद्हृदय ही है। जितना परिश्रम हम लोग शरीर के साफ़ करने में तथा वस्त्राभूषणों के साफ़ करने में करते हैं उतना नहीं तो थोड़ा कष्ट भी चित्तशुद्धि करने में करना चाहिये। प्रत्येक बात के पहले अपने मन की सफ़ाई पर ध्यान देना चाहिये क्योंकि गदले मन में असत्यता आ जाती है। जिस समय मनोभावों का पता लग जाता है उस समय मानों मनुष्य की सारी जीवनी प्रकट हो जाती है—इसपर एक दृष्टान्त है। एक दिन किसी धनाढ्य के यहाँ दो साधु जा निकले। उन्होंने घर के मालिक से स्थान व भोजन की याचना की। तदनुसार मालिक ने उन दोनों को बैठने की जगह बतलादी और

कहा कि आप दोनों में से एक २ करके स्नान कर आवें और एक जन अपना सामान देखते रहे। साधुओं ने कहा बहुत ठीक है। ऐसा कह कर जब कि एक साधु स्नान को गया तब मालिक दूसरे बैठे महात्मा के पास आया और पूछा कि महाराज जो दूसरे महात्मा आप के साथ हैं वे कैसे हैं?

इस प्रश्न पर साधु बोला कि सेठजी क्या कहे, वह तो बिलकुल बैल हैं, कुछ नहीं जानते, व्यर्थ ही साधु बने है, खैर। जब पहला साधु आगया और यह स्नान को गया, तब फिर सेठ ने इससे भी पूछा कि आपके साथी महात्मा कैसे हैं? तब इसने भी कहा कि क्या कहें सेठजी वह तो बिलकुल गदहा हैं।

बस सेठजी ने दोनों को पहचान लिया कि दोनों ही हृदय के काले हैं, चुगलखोर हैं।

सेठजी को भोजन देने की अपेक्षा उन्हें तंग करना विशेष रुचिकर हुआ और तदनुसार एक नाद में बिनौले और एक टोकरी में घास भरवा कर दोनों के सामने रखवादी और कहा कि बैल महात्मा के लिए बिनौले तथा गदहा के लिए घास ही उचित भोजन है। इस कृत्य से वे दोनों साधु अपना कहना याद कर सब समझ गये और धोती लँगोटी लेकर वहाँ से चम्पत हुए।

मनुष्य जब तक अपने समान सब आत्माओं को नहीं देखता, जब तक पद पद पर पराया हित करना नहीं चाहता तब तक सत्य हृदय का भागी नहीं हो सकता।

केवल रहती हुई वस्तु के लिये मना कर देना, न होने पर हामी भर लेना ही झूठ नहीं है, वरन जितने अशिष्ट व्यवहार हैं सभी असत्य में गर्भित हैं ।

जैसे गर्हित वचन बोलना, कपट करना, दूसरे की वृद्धि देख कर जलना यह सब सत्यता के नाशक हैं । सत्यभाषी के वचनों में विद्युत् का सा प्रभाव होता है यह जिस जगह जाता है वहां पराजयादि नहीं भोगता, जिससे प्रार्थना व याचना करता है सर्वत्र सफलता होती है ।

वर्तमान में कुछ ऐसी रीति सी हो गई है कि नवयुवक गण तथा महिलामण्डली जहाँ एकत्रित होती हैं वहा विना किसी प्रयोजन के भी झूठ बोल बोल कर हास्य-विनोद होने लगता है । परन्तु यह बात उचित नहीं । असत्य किसी प्रकार भी बोला जावे परन्तु जिह्वा को कलुषित अवश्य करेगा, हँसी में झूठ बोलते बोलते अभ्यास पड़ जाता है फिर कभी समय आने पर अन्यत्र भी असत्य बोलना भारी नहीं मालूम होता । वास्तव में विचार किया जाय तो असत्य की जड़ हास्यविनोद से ही पक्की पड़ती है, अतएव विचारशील मनुष्यों को ऐसे हास्य से भी बचना चाहिये ।

सत्य ज्ञान ही ज्ञान है, सत्य ध्यान ही ध्यान ।
सत्य परम कल्याण है, सत् सम नहि कछु आन ॥
मन वच तन कर सेइये, सत्य परम सुख खान ।
सब कारज में राखिये, एक सत्य पै ध्यान ॥

भर्तृहरि जी ने भी कहा है—

> केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चंद्रोज्ज्वला'।
> न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्द्धजा' ॥
> वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।
> क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥१॥

भावार्थ—बाजूबन्द कंकणादि गहने तथा स्नान विलेपनादि मनुष्य को भूषित नहीं कर सकते, केवल एक उत्तम वाणी ही भूषित कर सकती है। तथा, समय पाकर सब आभूषण उतर जाते हैं, परन्तु एक सुवचनरूपी आभूषण ही साथ रहता है। प्राचीन ऋषियों ने तथा आधुनिक विद्वानों ने सत्य-शुद्ध वचन की महिमा अनेक गद्यपद्यात्मक ग्रन्थों मे गाई है। अनेक राजाओं ने इस सत्य वचन के कारण अपने प्राण तथा राज्यादि देना भी स्वीकार कर लिये थे। यह यत्र तत्र पुराणों मे लिखा मिलता है, ग्रन्थों मे आर्षवचन हैं कि स्त्री का जन्म तथा और अनेक कष्ट मनुष्य को पूर्वभव के असत्य वचन बोलने के पाप से और कुटिल परिणाम रखने के पाप से मिलते हैं। अतएव हमारी बहिनों को अवश्य अब इस जन्म में उक्त दोनों बातें छोड देनी चाहिए। अपने मन-वचन-काय के योगों को सरल रखने चाहिए। जो वचन मुख से निकलें उनका प्रति-पालन उचित रीति से करना चाहिये। हृदय सदैव शुद्ध रखकर सर्व गृहस्थाचार की विधि करनी चाहिए। यह नहीं कि कहना कुछ और, करना कुछ और। नीतिकारों का वचन है कि—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
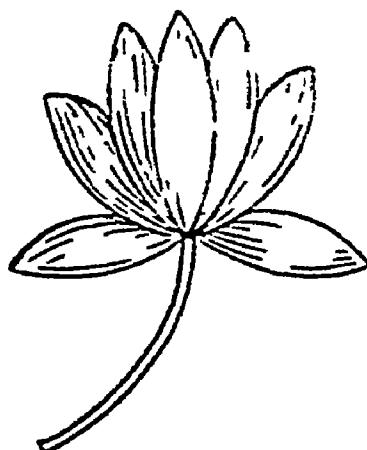
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्, कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥१॥

भावार्थ—महात्माओं के जो मन में वही वचन में और वही वर्त्ताव में भी रहता है. किन्तु दुरात्माओं के मन में कुछ और वचन में कुछ और तथा कर्म में कुछ और ही रहता है।

हम लोगों को महात्माओं का अनुकरण करके शुद्धान्तःकरण से शुद्ध कार्य्य करने चाहिये। सद् हृदय का जो परमानन्द है उसका स्वाद लेना चाहिये।

सच्चे बन कर सब प्राणियों को विश्वासी बनाना चाहिये।

जयति सत्य सर्वदा !!!

आहार-विहार।

आहार-विहार का नियमित रूप से होना ही मनुष्य-शरीर की जड है। जो लोग इसकी ओर ध्यान नहीं देते वे न नीरोग ही रह सकते हैं, न धर्म्मसाधन ही कर सकते हैं।

अशुद्ध भोजन-पान मनुष्य के शरीर में विष उत्पन्न कर देता है। वर्तमानकाल में भारतवर्ष में प्रायः मनुष्यो को एक न एक रोग लगा रहता है, इसका मुख्य कारण आहार-विहार की गड़बड़ी है। आज भारत मे जन्म लेते ही बच्चो को रोग घेर लेना है, यदि भाग्यवशात बाल्यावस्था में बच गये तो तरुणाई में दमा, कास, श्वास कुछ न कुछ रोग आ जमता है। यदि किसी की तरुणाई भी बच गई तो थोड़े समय में ही वृद्धत्व ने धावा किया। बस फिर क्या है, फिर तो इस देश मे कौन सा बुड्ढा सुखी होगा। अवश्य ही आंख, दांत, श्वास की बाधा से पीड़ित रहता है।

हमारी बहिनो का तो और भी बुरा हाल है।

स्त्रियों को और भी बुरा भोजन मिलता है, तथा विहार

की बिलकुल प्रथा ही नहीं है, इस कारण ये तो बहुत ही शीघ्र अपने नीरोग जीवन से हाथ धो बैठती हैं।

यहाँ तक कि यदि बाल बच्चा होना प्रारम्भ हुआ तो पाच सात बच्चों मे ही या कोई एक दो बच्चों मे ही समाप्त हो जाती हैं, और फिर उनकी सन्तान अत्यन्त दु ख से अपनी बाल्यावस्था पूरी करती हैं।

जिस दिन से कन्या उत्पन्न होती है उसे भाई की अपेक्षा घटिया भोजन मिलने लगता है। इस कुव्यवहार से बड़े होने पर भी कन्या के शरीर मे अधिक बल नहीं होने पाता। और गृहस्थी का भार पड़ते ही जिस प्रकार ट्रैम के घोड़े, थोड़े ही दिन जीकर, परिश्रम के कारण, मर जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री भी मर जाती है।

कन्याओ को नीची दृष्टि से देखना—यह प्रथा न मालूम भारत से कब विदा होगी।

कन्या को विवाह में जो दान-दहेज दिया जाता है, उसी कसर को भारतवासी जन्म से ही पूरा करना प्रारम्भ कर देते हैं। परन्तु ऐसा करना सर्वथा अनुचित है।

इस चरित्र से एक कन्या का ही नहीं, वरन् समस्त भारत का गला कटता है। दुर्बल स्त्रियाँ दुर्बल रुग्ण ,सन्तान उत्पन्न करती हैं, इससे उत्तरोत्तर देश का बल, वीर्य, ज्ञान घटता जा रहा है।

इसका पूर्ण रीति से विचार कर बन्धु तथा हमारी बहिनों

को चाहिये कि कन्या और पुत्र दोनों पर ही समदृष्टि रख कर उत्तम भोजन पान का उचित प्रबन्ध किया करे।

वर्त्तमान मे यदि सब से बड़ी कठिनता है तो यही है कि शुद्धवस्तु बाजार में नहीं मिलती। घी, तेल, अन्न, समस्त पदार्थ ही मिश्रित एवं अपवित्र मिलते हैं।

शहर वाले जो कि सदैव बाजार की बनी हुई चीजों पर ही अपना भरण-पोषण निर्भर रखते हैं अधिकतर बीमार ही रहते हैं या दुर्बल जीवन व्यतीत करते हैं।

परन्तु इनकी अपेक्षा जो गाँव देहात वाले हैं वे अपने यहाँ घी दूधादि स्वयं निकाल कर खाने के कारण कुछ अच्छे रहते हैं।

परन्तु इन बेचारों की दरिद्रता इतनी है कि पूर्ण रीति से पेट ही नहीं भर सकते। इधर तो अशिक्षा, उधर दरिद्रता इन दोनों रोगों ने भारत को ऐसा घेरा है कि जिसका विचार करने से हृदय फटने लगता है।

इस समय हमारी प्रार्थना उन शहर वाली बहिनों से है, जो अपने आलस्य के कारण न घर में आटा बनाती, न दाल बनाती और न दूध जमा कर स्वहस्त से घी निकालती हैं। वरन इन सब पदार्थों को बाज़ार से मँगा कर खर्च करती हैं, जिससे धर्म कर्म दोनों की हानि होती है।

बाज़ार के आटे में गेहूँ की जगह बहुत सा जौ तथा ज्वारादि अन्नों का चूर्ण मिला रहता है, यही नहीं वरन् बड़े बड़े

शहरों मे जो आटा बाज़ार मे बिकता है उसमें एक प्रकार की पत्तियो का चूरा मिला रहता है। यह बना हुआ आटा देखने में साफ़ मालूम होता है परन्तु खाने से अत्यन्त दुर्गुण करता है।

इसी प्रकार घी में चर्बी का मेल रहता है।

प्राचीन ऋषियों ने ग्रन्थों में बार बार उपदेश दिया है कि प्रत्येक गृहस्थ स्त्री को स्वहस्त से शुद्ध भोजन बना कर कुटुम्ब को भोजन कराना चाहिये। तथा स्वय भी सदैव शुद्धाहार करना चाहिये। भारत में यह प्रथा पुरानी थी, परन्तु खेद है कि वर्त्तमान में योरप का अनुकरण करके धनाढ्य स्त्रियाँ रसोईदारों से कच्चा पक्का शुद्धाशुद्ध भोजन बनवाकर उदर पोषण करती हैं। तथा अपने पतिदेव और बालबच्चों को प्रकृति-विरुद्ध भोजन करा कर उनका सर्वनाश करती हैं।

हमारी नवीन फैशनवाली बहिनें अपने हाथों से अन्न को सोधना, बीनना, रसोई बनाना इत्यादि काम करने में अपनी मानहानि समझती हैं। तथा अशुद्ध वस्तुओं को बाज़ार से मँगाकर खाने मे और मेम लोगो के समान अपने ब्राह्मण बावर्ची से बनवाकर भोजन करने मे फैशन समझती हैं।

बहिनो! अपना यह बर्ताव ठीक नहीं है। सब बातों मे हम योरोपादि देशों का अनुकरण करने से सफलीभूत नहीं हो सकतीं। वरन् उन देशों में जो गुणदायक शिक्षायें हैं उन्हीं की नक़ल करनी चाहिये। प्रथम तो उन देशों में सब मनुष्य

शिक्षित हैं। नौकर भी शिक्षित, मालिक भी शिक्षित। इसी कारण गृहस्थों के कार्य्य भोजनादि वे कर लेते हैं। तथापि यह प्रथा उन लोगों में भी हानिकारक है। और समय समय पर इसका भयङ्कर परिणाम भी वे लोग पाते रहते हैं। परन्तु अपने देश में जहां कि ब्राह्मणादि बिलकुल पाकशास्त्रादि से अनभिज्ञ हैं, क्रिया-काण्ड कुछ जानते नहीं, उन लोगों से भोजन बनवाकर पेट भरना अत्यन्त दुःखदाई है।

रसोई की प्रत्येक सामग्री ताजी, साफ, बिनी-चुनी होनी चाहिये। प्रातःकाल के लिये पहिले दिन चावल दालादि सब पदार्थों को स्वहस्त से देख-भाल कर तथा गेहूँ आदि बीन कर ताजा आटा पिसवा कर रख देना चाहिये।

घी यदि घर में गाय भैंस रखकर उनके दूध से निकाला जाय तो अधिक अच्छी बात है। इसमें लाभ भी है पशु घर में रखने से—दूध-दही-घी तीनो वस्तुएँ शुद्ध मिलती हैं, परन्तु यदि यह न हो सके तथा इतना द्रव्य न हो तो इन वस्तुओं को जाच कर जहां शुद्ध मिलती हों ऐसे विश्वस्त स्थान से मँगानी चाहिये। जिस प्रकार वस्त्राभूषणों के लिये स्त्रियाँ प्रायः चतुर सुनार, दर्जी आदि की खोज कर लेती हैं तथा पढी-लिखी बहिनें दिन रात विज्ञापनों की उलटा-पुलटी में लगी रहती हैं और भारत—इङ्गलैण्ड को एक कर डालती हैं, उसी प्रकार यदि भोजन-सामग्री पर ध्यान रक्खें तो सदैव शुद्ध सामग्री मिलती

रहे । यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जैसा भोजन किया जायगा वैसी ही बुद्धि होती है ।

एक साधु अच्छे तपस्वी थे उन्होंने एक दिन भूल से किसी सुनार के यहाँ आहार कर लिया ।

लौटकर वन में तप करने लगे, रात्रि को उनका मन ध्यान में नहीं लगा । चित्त चञ्चल होने लगा । निदान प्रातःकाल आकर उन्होंने पूछा तो मालूम हुआ कि सुनार का अन्न खाया है । इन लोगों का रुपया प्राय चोरी का रहता है, इसीसे ऐसा हुआ ।

देखिये बहिनों ! भोजन की सामग्री कहाँ तक ठीक होनी चाहिये । न्याय मार्ग से उपार्जित धन होना चाहिये, फिर भली भाँति निर्दोष द्रव्य ख़रीद कर अच्छी विधि से पाक होना चाहिये ।

बहुत सी वस्तुएँ जो कि अपने धर्म्म में वर्जित की गई हैं उन्हें रसोई में नहीं बनाना चाहिये । वर्तमान मे प्याज, सलगमादि कन्द खाने मे लोग कोई दोष नहीं समझते, किन्तु यह बड़ी भूल है । अवश्य इन पदार्थों में जीवोत्पत्ति विशेष है ये भारी भी होते हैं, शीघ्रता से नही पचते । अत॰ खाद्य नहीं हैं ।

अभक्ष्य वस्तु खाने मे स्वादिष्ट लगती है, परन्तु उसका फल कालान्तर में दु.खदायक होता है । प्राचीन ऋषियो ने जिन जिन वस्तुओं को अभक्ष्य बतलाया है, उन्हे सर्वथा छोड़ देना चाहिये । जिन मनुष्यों के हृदय मे लोलुपता डेरा जमा

लेते हैं, वे लोग अभक्ष्य वस्तुओं के लिये नाना प्रकार के प्रमाणों में तुकबन्दियाँ करके शास्त्रार्थ ऐसे उलटे सीधे निकालने का प्रयोग करते हैं जिससे उनकी उदर-पूर्ति हो। कहीं साइन्स की गवाही भरते हैं तो कहीं वैद्यक शास्त्र से लाभ प्रमाणित करते हैं।

परन्तु इन बातों के चक्र में बुद्धिमानों को न आना चाहिये, शुद्ध भोजन से मुख नहीं मोड़ना चाहिये।

आहार का प्रभाव बुद्धि पर बड़ी तेज़ी से पड़ता है। थोड़े दिन अभक्ष्य भक्षण करने से ही फिर ऋषिप्रणीत वाक्यों से श्रद्धा जाती रहती है। जिस प्रकार मोर्चा लगे चाकू से कोई वस्तु नहीं कटती, उसी प्रकार बुद्धि में जंग लग आ जाता है फिर कोई उपयोगी विचार नहीं आने पाता। केवल पाप-प्रवृत्ति ही रह जाती है।

भोजन बनाते समय ३ बातों पर ध्यान देना चाहिये।

१—ऋतु की अनुकूलता।

२—प्रकृति की अनुकूलता।

३—धर्म की अनुकूलता।

इन तीनों बातों का विचार करके जो मनुष्य भोजन करते हैं, वे नीरोग जीवन व्यतीत कर परलोक में भी सुख पाते हैं, और जो लोग इन बातों का विचार नहीं करते वे उभय लोक में दुःख उठाते हैं।

ऋतु की अनुकूलता—षट् ऋतुओं में एकसा ही भोजन

नहीं करना चाहिये। गर्मी—जाड़ा—वर्षा, सब का विचार करके गृहिणी को भोजन बनाना चाहिये। इस ज्ञान के लिये कुछ वैद्यक ग्रन्थों का अवलोकन करना भी अत्यावश्यक है। वर्त्तमान में या तो बहिनें अक्षराभ्यास ही नहीं करतीं और यदि कुछ पढने लिखने का अभ्यास भी कर लेती हैं तो उपन्यासों के पढ़ने में ही अपना समय व्यतीत करती हैं। इन उपन्यासों की तरङ्गें ऐसी हैं कि जहाँ १०—२० पढे गये कि फिर कोई नैतिक पुस्तक के पढ़ने मे चित्त नहीं लगता। अतएव बहिनों को उचित है कि उपन्यासों की अपेक्षा अन्यान्य पुस्तकों का विशेष अवलोकन करती रहें। वैद्यक ग्रन्थ, नैतिक ग्रन्थ, धार्मिक ग्रन्थ इन तीनों का मनन किये विना गृहस्थ स्त्री अपनी गृहस्थी सफलता से नहीं चला सकती।

मनुष्य ऐसा समझते हैं कि माता पिता के हाड़-मांस में से हमारा शरीर बना है। और फिर जो वृद्धि हुई है वह सब स्वयं ही हो गई है परन्तु यह नहीं है। गर्भ में से प्रसव होने के पश्चात् जो शरीर की वृद्धि होती है वह सब भोजन वायु के सहारे से होती है। अतएव जो स्त्री घर में भोजन बनाती है वही शरीर के हाड़ मांस को पुष्ट करने वाली है।

इसीलिये उस स्त्री को जितना विशेष ज्ञान होगा उतना ही भोजन शुद्ध, स्वादिष्ट और स्वास्थ्य-युक्त बनेगा और तभी घर के सब लोग सानन्द अपने शरीर की वृद्धि कर सकेंगे।

जाड़े में पौष्टिक पदार्थ जैसे घी, दूध, मेवा पौष्टिकान्न गेहूँ,

बाजरा, चना, उरद इत्यादि, तथा ऐसी तरकारियां जो गर्म होती हैं, विचार करके खानी चाहिये।

गर्मी में ठन्डी वस्तु खानी उचित है। घी, दूध कम खाना उचित है तथा दही आदि ठण्डे पदार्थ खाने चाहियें।

भारी भोजन गर्मी में बहुत हानिकारक होता है, गरिष्ठ भोजन करने के कारण कितने ही मनुष्य हैजादि रोगों के ग्रास बन जाते हैं।

प्रकृति-विरुद्ध भोजन भी मनुष्य के लिये विष के समान है यदि किसी मनुष्य की कफ-वात प्रकृति हो और वह दुग्ध का सेवन अधिकता से करे तो अवगुण करेगा। इस प्रकार दधि और भी अधिक अवगुण करेगा। परन्तु ये ही पदार्थ सम प्रकृति (हृष्ट-पुष्ट) मनुष्य के लिये सदैव गुणकारी हैं।

जिस समय जैसी प्रकृति हो उसके अनुकूल ही भोजन करना चाहिये।

बहुत ठस कर भोजन करना भी अनुचित है।

भूख से कम खाना अच्छा है। परन्तु विशेष खा लेना ठीक नहीं है। इससे पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है।

भोजन के समय धार्मिक मर्य्यादा को भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिये। अपनी जिह्वा की लम्पटता के कारण कोई अभक्ष्य पदार्थ सेवन में न आ जाय, इस बात का विचार सदैव रखना उचित है।

ज़रा भी पक्षपात और स्वार्थ को छोड़ कर देखा जाय तो

अभक्ष्य वस्तुओं के त्याग में अनेक गुण और प्रमाण हैं तथा शान्ति और सुख है। इसकी अपेक्षा अभक्ष्य-भक्षण में कोई प्रमाण और लाभ नहीं है। केवल स्वार्थपूर्त्ति के लिये ऊपर ऊपर के प्रमाण लोग दे देते हैं, इनमें कुछ भी यथार्थता नहीं है।

पशु-जाति इस युग में भी अपना नियम दृढ़ रूप से पाल रही है। गाय, बैल, घोड़े, हाथी सभी उत्तम और मनुष्य के सब से बड़े कामों में भाग लेने वाले पशु हैं। ये कभी मांस नहीं खाते, किसी नशे की चीज को नहीं चरते, न कभी विषैले पदार्थों को ही खाते हैं। परन्तु वर्तमान में मनुष्यों के सभी नियम फिर चले हैं, पृथिवी भर की जातियां अपने नियमों का उल्लङ्घन करके अभक्ष्य भक्षण में लगती जाती हैं। यहां तक विपरीत समय हो गया है कि कई धर्मवालों ने बहानेबाज़ी करके अपने अपने धर्म्मों में अभक्ष्य-भक्षण की राह निकाल ली है। परन्तु यह सब उदर-पूर्त्ति है, न मुसलमानों के मुहम्मद ने कहा है कि हिंसादि करके अपवित्र भोजन करो, न अँगरेज़ों के ईसामसीह ने कहा है, न बुद्ध महाराज का ही यह उपदेश है, वरन् इस महात्मा ने तो पञ्च-व्रतों का बड़ी उत्तमता से वर्णन किया है। कहावत है कि "समय के फेर ते सुमेर होत माटी को।"

इसी के अनुसार वर्तमान युग में इन लोगों के उपदेशों का उल्टा अर्थ निकाल कर मनुष्य अभक्ष्य भोजन करते हैं। इस अर्थ व अनर्थ का विवेचन अन्यान्य पुस्तकों में, जैसे अँगरेजों

"की ऑफ नॉलेज"—बङ्गला की पुस्तक अहिंसादिग्दर्शन आदि पुस्तकों में किया है। यहां पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि मनुष्य को नेत्र उघाड कर देखना चाहिये। जो वस्तु पर-प्राणी को दु ख देकर प्राप्त होती है या जिन वस्तुओं के खाने से शरीर और मन में उन्माद-भ्रम उत्पन्न होता है तथा जिन पदार्थों के लम्पटत्व में बहुत ही अधीनता है वे सब अभक्ष्य हैं और इनके खाने में कदापि लाभ नहीं है।

विदेशी लोगों को हृष्ट-पुष्ट देख कर उनके आहार की सराहना मत करो, उनके आहार का यह गुण नहीं है। यह उनकी अन्यान्य प्रवृत्ति का फल है। यह पुष्टता उनके ब्रह्मचर्य और योग्य समय में आहार-विहार करने का फल है। अतएव दूसरों की चमक दमक में आकर भोजन में अशुद्धता न करनी चाहिये—धार्म्मिक मर्य्यादा के अनुकूल स्वच्छ और शुद्ध भोजन करना चाहिये।

भोजन नियमित रूप से होना चाहिये। प्रातःकाल उठ कर नियम कर लेना चाहिये—कि कितनी बार भोजन करेंगे। इस प्रकार के नियम से धर्म-फल के साथ साथ अजीर्ण आदि रोग भी न होंगे, और अवकाश विशेष मिलेगा, तथा संतोष बढेगा। भोजन का लम्पटत्व भी कम नहीं है। बाज़ बाज़ मनुष्यों का सारा समय इसी धन्धे में जाता है। इधर भोजन किया फिर पान खाया, फिर पानी पिया, फिर सिगरेट, फिर ठंढाई, फिर भोजन! इसी प्रकार दिन जाता है। परन्तु यह बड़ी भारी भूल है। भोजन किया जाता है शरीर से और और काम लेने के लिये,

और जिन मनुष्यों का श्वासोच्छ्वास साफ़ है, उनको क्षय बात पित्तादि रोग नहीं हो सकते ।

शरीर को निरोग रखकर इस भूमण्डल पर स्वपरहित-साधन करना, यह प्रत्येक प्राणी का परम धर्म है । अतएव हमारे बन्धु-भगिनियों को आहार-विहार पर ध्यान देना चाहिये ।

जीवनोद्देश्य।

मनुष्य-मात्र का कुछ न कुछ उद्देश्य होना चाहिये, जैसे यात्रा के लिये निकला हुआ पथिक जब तक यह निश्चय न कर ले कि किस किस जगह जाना है तब तक कुशलता से सब सामानादि का प्रबन्ध नहीं कर सकता। और न ठीक ठीक मार्ग पर ही चल सकता है। वरन् भटकता फिरता है।

उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के जीवनकाल का कोई न कोई उद्देश्य न रहने से वह भटकता फिरता है।

उद्देश्य—(अर्थात् दृढ़ संकल्प, कि मुझे यह काम करना है) यद्यपि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, पुरुषार्थों की सिद्धि करनी है तथापि मुख्यता गौणता की अपेक्षा से सब का एक सा नहीं होता। जैसी जिसकी शिक्षा हुई होगी, वैसा ही उसका उद्देश्य होता है। प्राचीनकाल में जो बड़े बड़े ऋषि महात्मा हो गये हैं उनके उद्देश्य बड़े बड़े ऊँचे होते थे। अब भी जो लोग बड़े बड़े काम करते हैं उन सब के उद्देश्य बड़े बड़े रहते हैं।

उन्हीं पर जी-जान से परिश्रम करके चलते हुए वे लोग सफलता प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् उन कामों को सम्पूर्ण कर लेते हैं। किसी का उद्देश्य धन कमाने का, किसी का विद्या पढ़ने का, और किसी का परोपकार करने का रहता है।

जिस मनुष्य ने अपना उद्देश्य निश्चित कर लिया है, उसके जीवन का समय व्यर्थ नहीं जाता।

खाने पीने तथा और और गृह-झंझटों से फुरसत मिली और वह अपने उद्देश्य की पूर्त्ति (विचारे हुए काम) में लग गया। इसी प्रकार नित्य करते करते महात्माओं से बड़े बड़े काम हो जाते हैं।

जिन मनुष्यों ने अपना कुछ उद्देश्य ही निश्चित नहीं किया है, उनका सारा समय व्यर्थ झंझटों मे चला जाता है। न उनसे अपना कोई काम पूर्ण होता और न वे दुनिया के लिये ही कोई बड़ा लाभदायक काम कर सकते हैं।

पुत्रियो, बाल्यावस्था में जब तक तुम उच्च विद्या प्राप्त न कर लो, तब तक तुम्हारा उद्देश्य यही रहना चाहिये कि हमें विद्या-लाभ करना है।

विद्यार्थी का उद्देश्य-मात्र विद्यालाभ करने का है।

परन्तु जब तुम पढ़ लिख चुको और संसार के कार्य्यों में चलना प्रारम्भ करो तब अपने उद्देश्य को एक बार अवश्य निश्चित कर लो।

संसार में प्रवेश करते ही मनुष्य को यह निश्चय कर लेना

चाहिये कि मैं अपने जीवन मे कौन सा बड़ा काम करूँगा ? मैं अपनी मृत्यु के पीछे अपने किस बड़े कर्तव्य को इस भूमण्डल पर छोड़ जाऊँगा ? जिसने यह निश्चय कर लिया है, बस वह कुछ न कुछ अवश्य कर सकेगा ।

हमारी भारत-भगिनियों ने यह सोच रक्खा है कि हम किस लायक हैं ! १०० मे से ९९ बहिने यही कहती हैं कि हम अबला स्त्री क्या कर सकती हैं । जो कुछ गृहस्थी के कार्य्य हैं उन्हे ज्यों त्यों कर लिये और हाथ पर हाथ रख कर बैठ रहीं, बस इन्हीं सोच विचारों से अपना कोई उद्देश्य निश्चय नहीं करतीं । किसी महत्त्व के कार्य पर दृष्टि नहीं डालतीं । माताओं की इस अवस्था को देखकर पुत्रियों के नवीन रक्त भरे शरीर भी शिथिल पड़ जाते हैं । वे सुसराल गईं कि शिथिलता की मात्रा बढ़ आयी । नितान्त यहाँ तक है कि करना चाहिये कुछ और करती हैं कुछ और । विचारो को शिथिल करते करते रोग, दुःख, दरिद्रता के हिंडोले में झूलने लगती हैं । मार्ग भूले पथिक की तरह भव-वन में भटकने लगती हैं ।

पुत्रियो एवं बहिनों, बहुत सा समय तो मनुष्य को लाचार होकर उद्देश्य से उलटा खोना पड़ता है । परन्तु जो अपने स्वाधीन समय है उसको कभी व्यर्थ न खोना चाहिये । जिस तरह किसी बुद्धिमान् मनुष्य ने अपने सारे समय का कार्य्य-क्रम (प्रोग्राम) ठीक ठीक बना लिया हो, यह निश्चय कर लिया हो कि मैं इतने समय तक पढूँगा, अमुक अमुक परीक्षा पास

करूँगा, फिर अपना समय इस इस तरह व्यतीत कर अमुक बडा धार्मिक काम, व लौकिक काम, व व्यापार, व आविष्कार की सेवा में अपनी संसार-यात्रा पूरी करूँगा, इत्यादि उद्देश्य निश्चित करने पर भी यदि रोग आ दबावे, कोई संकट अचानक आ जाय तो उस मनुष्य को और और तरफ़ झुकना पड़ता है, दूसरे कामो में समय खोना पड़ता है, परन्तु जो समय सर्व आकुलताओं से रहित है, जिस समय शरीर नीरोग हो और आर्थिक अवस्था भी ठीक हो वह समय अमूल्य है, वही समय उद्देश्य को पूर्ण कर सकता है। यद्यपि ऐसी अवस्था मनुष्य के जीवन भर में थोड़े काल ही रह पाती है, क्योंकि कैसा ही शक्तिशाली व्यक्ति क्यों न हो सब समय निराकुल उसका भी नहीं रह सकता। जिस तरह अन्न में घुन लगता है, लोहे में मोरचा लगता है, ऊन में किसारी लगती है, तथा शक्तिशाली राजाओं के राज्य में विरोध डेरा जमाता है, इसी तरह साधारण मनुष्य के जीवन मे भी आकुलता अवश्य आती है। परन्तु इससे यह तात्पर्य्य नहीं है कि निराकुल समय कभी आता ही नहीं। नहीं नहीं, स्वाधीन समय भी बहुत मनुष्य को मिलता है। यदि उसको व्यर्थ न जाने दें, तब तो वह दृष्टिगोचर होता है, वरन् सुख के दिन शीघ्र व्यतीत होकर झंझटो से ग्रसित अहोरात्रि फिर आ दबाते हैं, फिर उस समय मे कुछ नहीं हो सकता।

पृथ्वी पर जितने प्राणी हैं प्रत्येक का उद्देश्य कुछ विलक्षण

ही होता है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो सब के लिये सच्चा उद्देश्य एक ही उचित है। आत्महित और परोपकार, बस ये ही सारी भलाइयों के मूल कारण हैं। इस वाक्य के सूत्र में बँधा मनुष्य स्वयं लौकिक सुख भोगते भोगते दूसरों का भी यथेष्ट भला कर सकता है, और यदि इसके बाहर हुआ तो क्षति उठाता है।

बहुत से मनुष्य पराये सुख-दुख की परवाह छोड़ अपना उदर-भरण, कुटुम्ब-रक्षण तथा स्वार्थ-सहित धर्म्म-साधन मे लग जाते हैं। यह भी ठीक नहीं है। तथा, बहुत से शीघ्र विचार-शील, अपना कुछ भी ख़याल न कर, केवल परोपकार के लिए ही उतारू हो जाते हैं, जिससे कितने ही अवसरों पर उलटा असर पड़ता है, इसलिए यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस काम के करने मे अपने आचरण में फर्क आ जाय तथा पाप-बन्ध हो जाय ऐसा परोपकार नहीं करना चाहिये। वरन् दूसरे का भला इस रीति से करना चाहिये कि जिससे अपना आचरण शुद्ध होता जावे तथा आत्मबल बढ़ता जावे।

संसार का सारा तारतम्य परोपकार पर ही निर्भर है। परोपकारियों के सहारे से ही समस्त उत्तमोत्तम कार्य होते हैं। श्रीउमास्वामी ने कहा है "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" अर्थात् जीवो का स्वभाव ही परस्पर उपकार करने का है।

प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव में परोपकार की भावना होनी चाहिये—जिन मनुष्यो ने परोपकार को अपना उद्देश्य निश्चित

किया है वे संसार मे बडे सुखी रहते हैं। उनका जी कभी घबड़ाता नहीं। अरति कर्म उन्हें वहुत कम सताता है। परोपकारी कभी कर्मयोग से, धन-जन से, दुखी भी हो जावें तव भी उसको कष्टानुभव नहीं होता। नित्य नये नये कामों मे फँसे रहने के कारण तथा समस्त पृथ्वी के प्राणियों के सुख मे सुख मानने के कारण अपनी और कुटुम्ब की चिन्ता में व्याकुल नहीं होता। परोपकार करना मनुष्य का सामान्य धर्म है। इसके विना मनुष्य कितना ही धनवान बुद्धिमान क्यों न हो, शोभा नहीं पाता। परोपकार से वञ्चित जीव सूखा तथा ससार के लिये भार-स्वरूप हो जाता है। केवल खाना पीना सो रहना इतने में ही मनुष्य का कर्तव्य समाप्त नहीं हो सकता। किसी कवि का वचन है :—

दाने तपसि शौर्य्ये च, यस्य नोच्चरितं यशः।
विद्यायामर्थलाभे वा, मातुरुच्चार एव स. ॥ १ ॥

अर्थात् दान देने मे, तप करने में तथा पराक्रम मे अथवा विद्या पढ़ने मे और सम्पत्ति-उपार्जन मे जिस मनुष्य की बड़ाई नहीं हुई, वह केवल माता के पुकारने के लिये ही है अर्थात् उसका जन्म वृथा ही हुआ है।

वास्तव में जैसा यश परोपकारी का दिग्दिगन्त-व्यापी होता है, वैसा दूसरे मनुष्यों का नहीं होता।

जिस मनुष्य की आज निन्दा सुनते हैं, वही यदि परोपकार

करने में लग जावे और सत्य हृदय से स्वपर-कल्याणकर्ता बन जावे तो सब लोग स्तुति करने लगते हैं।

परोपकारी को अनेक गुण धारण करने पड़ते हैं या यों समझना चाहिये कि परोपकार करते करते अनेक गुण स्वयं प्रकट हो जाते हैं।

मिष्ट वचन बोलना, समस्त प्राणियों पर दयाभाव रखना, मिथ्या भेदभाव भूलना, सब से मित्रता करनी इत्यादि इत्यादि गुणों का आश्रय करने से ही मनुष्य परोपकारी हो सकता है।

हमारी बहिनों को भी अपना उद्देश्य निश्चित करके परोपकार की तरफ झुकना चाहिए। यदि यह गुण हम स्त्रियों के हृदय में स्थान प्राप्त करले तो सुवर्ण में सुगन्धि की कहावत चरितार्थ हो जावे।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को परोपकार करने के लिए विशेष समय है। पुरुष तो व्यापार के काम में लगे रहते हैं, परन्तु हमारी बहिनों को केवल गृहकार्य करने के अतिरिक्त अन्य कार्य बहुत ही कम करने पड़ते हैं। यदि बहिनें अपने बचे बचायें समय को व्यर्थ न खोकर हितकारी कामों में लगावें तो सहज ही में इस भूमण्डल पर सुखशान्ति की वृद्धि हो जावे।

योरोपादि देशों में स्त्रियाँ कितने परोपकारी काम करती हैं। गरीबों की भोजन पान की व्यवस्था के लिये चन्दा कर देना,

अनाथालयों की देखरेख करना, अस्पतालों में ग़रीब रोगियों की सेवा करना, इत्यादि इत्यादि।

आज हमारे आलस्य के कारण हमारे अनाथालयों की व्यवस्था कैसी हो रही है, यह कहना अत्यन्त कठिन है। एक भी स्त्रियों का भिन्न अनाथालय नहीं है। बालक और बालिकाओं को एक साथ रखने में जो जो हानि होती है उनका वर्णन करना यहां बहुत ही लज्जाजनक होगा। इसी प्रकार विद्याभवनों की भी यही अवस्था है। यद्यपि कितनी ही जातियों में स्त्रियां एम० ए०, बी० ए० की परीक्षा पास करने लगी हैं, तथापि उनमें उन गुणों की बहुत ही न्यूनता होगई है जोकि स्त्रीत्व के लिये अतीव आवश्यकीय हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि वर्तमान में स्त्रियां सेविका मिलतीं नहीं। जो जो कार्य्य करने होते हैं, पुरुष ही करते हैं।

अतएव शिक्षा दीक्षा सब उलटी-पुलटी हो जाती है। स्त्रीधर्म का उल्लङ्घन होने लगता है। तथा जो बालिका परिश्रम करके विद्याभ्यास करके निकलती है उसमें पुरुषयोग्य चरित्रों की भरमार हो जाती है।

इसी क्षति के कारण अभी तक भारत में सार्वजनिक स्त्री-शिक्षा का प्रचार नहीं होने पाता। माता-पिता कन्याओं को शिक्षित करने में डरते हैं, क्योंकि शिक्षालय स्त्रीधर्म्मोचित नहीं हैं। परन्तु यदि हमारी बहिनें परोपकार करने में हाथ उठावें तो यह क्षति पूर्ण हो जावे। जब तक हम स्त्रियां अपनी पुत्री

तथा पुत्रवधुओं को स्वहस्त से शिक्षित न बनावेंगी, तब तक वे सच्ची शिक्षिता नहीं हो सकतीं।

हमारी ग़रीब अमीर सर्व प्रकार की बहिनों को अपना अन्तिम जीवन परोपकार में लगाना चाहिये। तथा प्रारम्भ से ही इस को अपना उद्देश्य रखना चाहिये। समय समय पर जब गृहकार्य किये जावें, किसी का विवाह, किसी का नुकता, किसी का उद्यापन इत्यादि शुभ कार्य जब घर में प्रारम्भ होने लगें, उस समय परोपकार के ध्यान को मत हटाओ।

वाहवाही के लिये लक्ष्मी को सुनार-दर्जी-रंगरेजों के यहाँ मत फेंको। व्यर्थ के क्षणिक झझटों में फँसकर रुपया फेंकना महापाप है। वरन इन कामों को जहाँ तक हो सके थोड़े रुपये में समाप्त करके शेष धन किसी विद्यालय या औषधालय या पुस्तकालय या अनाथालय या जिनालय में लगादो, इससे बड़ी कीर्ति होगी तथा पुण्यबन्ध भी होगा जो परभव तक साथ चलेगा।

हमारी बहिनें अपने पुत्र के विवाह में इस बात का प्रयत्न करती हैं कि सबसे उत्तम गहना कपड़ा हमारी पुत्रवधू पहने तथा हमारे यहाँ जीनार सब से बढ़ चढ कर होवे और इसी विचार में खूब रुपया फेंकती हैं, दिन रात परिश्रम करती हैं, अपने पति से लड़ती हैं, उनको नाना प्रकार के वस्त्राभूषण बनवाने के लिये तथा नाच-तमाशों के लिये विवश करती हैं।

इन सब कामों को बहिनें क्यों करती हैं? इस प्रश्न को

ढूँढ़ने से यही उत्तर निकलता है कि अपनी प्रसिद्धि के लिये। ठीक है, बड़ाई के लिये ही ये सब काम किये जाते हैं। परन्तु बहिनों को सोचना चाहिये कि क्या परोपकारी कामों में बड़ाई नहीं है? क्या धार्मिक दान देने में बड़ाई नहीं होती? अवश्य होती है। वरन अन्य प्रकार के खर्चे की वाहवाही तो क्षणिक है। जबतक मिठाई मुख में है, तभी तक पञ्च तथा बन्धुजन वाहवाह करते हैं, दो सप्ताह के पश्चात् सब चुप-चाप हो जाते हैं। वरन् दो एक तुक्स निकालकर उलटी निन्दा करने लगते हैं। परन्तु धार्मिक दान का स्तंभ तथा विद्यादान का स्तंभ, बहुत दिनों के लिये खड़ा होकर. सर्वोत्तम यश को फैलाते हैं। अतएव पद पद पर इन हितकारी कामों को ध्यान में रखना उचित है। इसी में अपना और अपनी सन्तान तथा अपने देश का भला है।

जो बहिने पढ़ी लिखी हैं, उनको उचित है कि प्रमाद को त्यागकर परोपकार मे लग जावें। स्त्रियोपयोगी संस्थाओं को सम्हाल, जहाँ तक संभव हो पुरुषों को न रखकर, स्वहस्त से ही विद्यालयों तथा अनाथालयों की सेवा करें। जो समय परहित-साधन मे व्यतीत होता है वह बड़ा अमूल्य है। इसमे कर्मबन्ध भी शुभरूप होता है। परोपकारी परभव मे कदापि दरिद्रता तथा रोग-शोक-सम्बन्धी दुःख नहीं उठाता वरन् उत्तम से उत्तम पदवी को प्राप्त करता है।

अपने धर्म तथा देश की सेवा करना हमारे लिये नवीन

ज्ञात नहीं है। प्राचीन समय में भी अनेक ऋषि मुनि तथा अर्जिका साध्वी निरन्तर परहित करने में तत्पर रहती थीं। जितने ग्रन्थों की रचना मुनियों ने की है, वह सब परोपकार व्रत को ध्यान में रख कर ही की हैं। यदि पूर्व ऋषियों ने इतना परिश्रम धर्मशास्त्र रचने में न किया होता तो आज कोई मनुष्य अहिंसक या व्रती न दीखता। आत्मकल्याण का मार्ग बिलकुल रुक जाता। जो कुछ भी धार्मिक महिमा भारत में दीखती है वह कुछ न दीखती।

अपनी जाति में बाल-विवाह की कुप्रथा के कारण अनेक छोटी २ बहिनें जो कि वैधव्य दुःख से पीडित हैं, उनको चाहिये कि अपने मन को भगवत्-भजन में तथा शरीर को और धन को विद्या-शिक्षा-प्रचार में लगा देवें। इसी में उनकी शोभा है। अन्यथा गृह-झंझट में उनको शान्ति कदापि नहीं मिल सकती। बाल्यावस्था में इस महासंकट को बिना धर्मसाधन और परोपकार के कोई निवारण नहीं कर सकता। मनुष्य मात्र का स्वभाव है कि कोई न कोई कार्य करते रहना। जब तक योग चञ्चल हैं तब तक मनुष्य अवश्य मन, वचन, काय की चेष्टा के लिये प्रयत्न करता रहेगा। इस चेष्टा के लिये विधवा बहिनों को अपनी प्रवृत्ति परोपकार में लगानी चाहिये। अन्यथा इधर उधर चित्त फँसेगा तदनुकूल काम की चेष्टा भी होगी। अतएव मन, वचन, काय सब को वश में करने के लिये यह अच्छा उपाय है। अपने उद्देशों में कुछ कठिनाइयाँ भी आवें तो उनसे भय-

भीत न होना चाहिये। प्रायः परोपकारी मनुष्य को संकट आ दबाते हैं, परन्तु उनके कारण अपना स्वभाव न छोड़ना चाहिये। इस विषय मे "सूक्ति-मुक्तावली" मे कहा है:—

"सज्जन पिस जाता है तो भी, पर उपकार किया करता है।
चन्दन घिस जाता है तो भी निज आमोद दिया करता है॥

परोपकार एक अद्भुत रसायन है। जो मनुष्य परोपकार में लग जाते हैं उनका यश चतुर्दिक् फैल जाता है।

परोपकार मनुष्य की जन्मघूटी में पडने योग्य पदार्थ है।

जन्म-दिन से माता के भाव होने चाहियें कि हमारा पुत्र एवं पुत्री बड़ी होकर धर्म्मात्मा, सच्चे परोपकारी बनें तथा स्वार्थी और लालची न हों। केवल भाव मात्र ही नहीं, वरन् ऐसे ऐसे प्रयत्न भी करने चाहिये जिनसे बालकों के हृदय पर स्वार्थ न जमने पावे। प्रत्यक्षदेखा जाता है कि जिनके माता-पिता परोपकारी होते हैं उनके बच्चों के परिणाम भी कुछ ठीक रहते हैं अतएव प्रारम्भ से ही शिक्षा की सँभाल होनी चाहिये।

याचकों को अपने छोटे बच्चों के हाथ से अन्नदान दिलवाना, दूसरों के बच्चो के साथ सहानुभूति रखने का अभ्यास करवाना, विनय के साथ सेवा करने का अभ्यास करवाना इत्यादि सद् उपायों से बालक के हृदय पर परोपकार के अङ्कुर जम जाते हैं। इससे विपरीत जो मातायें अपने बालको को उद्धतता सिखाती हैं, नौकरो के बच्चों को मारना, ताड़न करना सिखाती हैं, उनके बच्चो में सेवा करने की चेष्टा नहीं रहती।
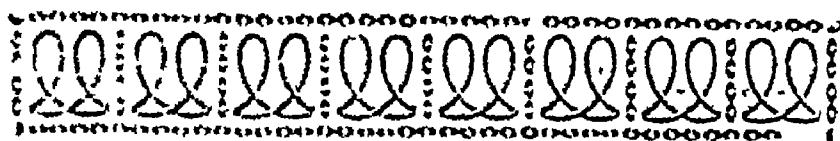
परोपकार का मूल मन्त्र सेवा-धर्म है । जिस मनुष्य में परसेवा करने का गुण विद्यमान है, वह अवश्य परोपकारी बनेगा। अतएव, अपने बालकों को प्रथम कुटुम्ब-सेवा तथा गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा करने सिखाना चाहिये। क्रमशः इसी अभ्यास से वे पुत्र पुत्री विश्व-सेवक बन जायँगे ।

प्रायः विश्व भर के माता पिताओं की यही इच्छा होती है कि हमारे पुत्र एवं पुत्रियाँ हमारी सेवा भक्ति करें, हमारी वृद्धावस्था में सर्व प्रकार का प्रबन्ध करके हमें आनन्द पहुँचावें, परन्तु यह इच्छा बहुत कम मनुष्यों की पूर्ण हो सक्ती है। यह कामना उन्हीं महात्माओं की पूरी होती है जो कि जन्म से ही संतान को परोपकारी बनाते हैं। तथा स्वार्थ और लालच से बचाते हैं ।

बहुत सी मूर्ख माताएँ, घमण्ड में चूर होकर, यह चाहती हैं कि हमारी सन्तान किसी दूसरे की सेवा-शुश्रूषा न करें, किसी की खुशामद से हमें क्या प्रयोजन है, तथा दूसरों की सेवा करने से हमारे बालबच्चों को व्यर्थ का कष्ट होगा; ऐसे ऐसे कुविचारों से अपनी सन्तान को परसेवा नहीं सिखातीं। इसका फल यह होता है कि उनकी सन्तति बड़ी होकर, उन्हीं का निरादर करने लगती है। वृद्धावस्था में न सेवा करती है न उनकी आज्ञा का पालन करती है वरन्, नाना प्रकार के कष्ट देती है । गुरुजनों की सेवा करना मूर्ख स्वार्थीजनों के लिये भार-वहन हो जाता है। उसी प्रकार उत्तरोत्तर कुटुम्ब

आलसी होकर सारे घर को नाश मे मिला देता है। अत. हमारी बहिनों एवं बन्धुओं का परम कर्तव्य है कि अपने बालकों को स्वपरहित-साधन के महामन्त्र को जन्म से ही सिखावें और उनके उद्देश्यों को ऊँचा बनावें।

ब्रह्मचर्य

—:०:—

ब्रह्मचर्य आत्मा का धर्म है "ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचर्य." अर्थात् अपने चित्त को बाह्य भ्रमण से रोक कर आत्मा में ही लीन रखना ब्रह्मचर्य है। व्यवहार में यह ब्रह्मचर्य दो प्रकार से पालन किया जाता है।

१—स्वस्त्री या स्वपति-सतोष।

२—स्त्री या पति का सर्वथा त्याग।

यह दोनों ही प्रकार का ब्रह्मचर्य मनुष्य सुख की जड़ है। जब तक मनुष्य का ब्रह्मचर्य ठीक नहीं रहता तब तक कोई भी सद्गुण उसमें निवास नहीं कर सकता।

प्रथम बाल्यावस्था से प्रारम्भ कर यौवनावस्था के निकट तक समस्त नरनारियों को पूर्ण ब्रह्मचर्य रखना उचित है। फिर यदि सांसारिक विषयों में फँसना हो अर्थात् विवाह करना हो तो उसके पश्चात स्वपति-संतोष-व्रत स्वपत्नी-सतोष-व्रत, स्त्री और पुरुष दोनों को, पालना चाहिये। यह व्रत दोनों लोकों में सुखशान्ति देने वाला है। इससे केवल परमार्थ ही नहीं होता वरन शरीर भी हृष्ट-पुष्ट, नीरोग रहता है। वर्तमान में जो रोग

और अकालमृत्यु दीखती हैं उनका मुख्य कारण ब्रह्मचर्य की भ्रष्टता ही है। जब तक मनुष्य पूर्ण युवा न हो ले, उसको ब्रह्मचर्य सुदृढ़ रखना चाहिये। जिस प्रकार कुम्भकार अपने बर्तनों के आवा में नियत काल तक अग्नि लगने देता है तभी उसके बर्त्तन मज़बूत होते हैं, यदि कुछ समय पहले ही आवा खोल दे और बाहर की ठंढी हवा लगने दे तो बर्त्तन कच्चे रह जाते हैं, फिर अनेक यत्न करने पर भी मज़बूत नहीं बनते, उसी प्रकार कच्ची अवस्था में ब्रह्मचर्य्य के नष्ट होने से मनुष्य के जन्म भर के शरीर का चक्र भ्रष्ट हो जाता है। सब धातुएँ अशक्त हो जाती हैं, भीतरी शक्ति नष्ट होकर केवल ऊपरी शरीर रह जाता है। ऐसे मनुष्य की सन्तान भी रोगी और अल्पायु होती है। हमारी बहिनों तथा भाइयों को इधर ध्यान देना चाहिये। ज़रा से भाई-बिरादरी के कहने सुनने के कारण छोटी छोटी बालिका एवं बालकों को विवाह-बन्धन में नहीं फँसाना चाहिये।

जिस बाल-विवाह में गाढ़ी कमाई पानी की तरह बहाई जाती है और जिसे भोली बहिनें बड़ा आनन्द का कारण समझती हैं वह अपने बच्चों के लिये हलाहल विष है। पुत्र तथा पुत्रवधू दोनों के लिये अशक्त बनने का, रोगी बनने का ठिकाना है। इस विषय में लोग सदैव कहा करते हैं कि क्या करें, लड़की रखने योग्य नहीं है, रजस्वला हो जायगी तो समस्त धर्म पर पानी फिर जायगा! लडकेवाले कहते हैं कि क्या करें,

लड़की नाना नहीं मानता इत्यादि मनमाने कारण बता कर बाल-विवाह कर ही डालते हैं। परन्तु विचार करके देखा जाय तो मुख्य कारण यह नहीं है। मुख्य कारण केवल अनध्यवसाय है। अज्ञान के कारण एक दूसरे का अनुकरण करते हैं। यदि किसी सेठ ने ६ वर्ष की पुत्री का विवाह किया तो दूसरा सेठ ८ वर्ष में ही विवाह करने को तैयार हो जाता है।

रजस्वला की गवाही व्यर्थ ही भरते हैं—शास्त्रों में गृहस्थियों के बारह व्रतों का धारण समस्त मनुष्यों को अत्यावश्यक बताया है। परन्तु एक व्रत के पालने का भी प्रयत्न मनुष्य नहीं करते—शास्त्रों में २२ अभक्ष्यों का त्याग प्रत्येक गृहस्थी के लिये लिखा है। परन्तु रात्रि-दिन अभक्ष्य-भक्षण होता है—गृहीत मिथ्यात्व महाबन्ध का कारण है, तथापि बहिनें घर घर पूजती हैं—इन सब कामों से धर्म का ध्वंस नहीं समझतीं, परन्तु पुत्री रजस्वला न हो जाय, इस भय से ८ वर्ष की कन्या को ४० वर्ष के बूढ़े के साथ विवाह कर देने में धर्म समझती हैं। जैन-आर्ष-ग्रन्थों में जो कथायें लिखी हैं उनसे ज्ञात होता है कि पूर्वकाल में चेलना, द्रौपदी आदि सतियों का विवाह तरुणावस्था में ही हुआ था। इनमें स्वयंवर-रचना इत्यादि कितनी ही बातें प्रमाणित हैं, क्योंकि स्वयम्वर में पति को पसन्द करना, यह छोटी बालिका का कर्तव्य नहीं है।

परन्तु लोगों का ऐसा ख़याल है कि वर्तमानकाल ऐसा नहीं है; पुत्री शीघ्र युवती होती है। यह ठीक है अवश्य।

पहले और अब के संहनन मे बहुत भेद है, तथापि इसका परिणाम इतना भयंकर नहीं होना चाहिये कि जरा सी बात के लिये पुत्रियों को, बाल-विवाह करके, गढ़े में डाल दिया जावे। यह मिथ्या भय मुसलमानी राज्य के समय से हुआ है। जिस समय कि यवन लोग काँरी कन्याओं को निकाल कर ले जाते थे और बलात्कार विवाह कर लेते थे, परन्तु विवाहिता को नहीं छेड़ते थे, उस समय हिन्दुओं को अपनी रक्षा के लियं बाल-विवाह प्रारम्भ करना पड़ा। उसी समय शीघ्रबोधादि ग्रन्थो की रचना हुई। परन्तु अब वह समय नहीं है, फिर यह प्रथा अवश्य ही उठा देनी चाहिये। जैन विद्वानों को भी ग्रन्थों का मनन कर यह खोजना चाहिये कि यवन-राज्य से पहले पहले के बनाये हुए ग्रन्थो मे रजस्वला का बन्धन लिखा है या नहीं। यदि नहीं लिखा है तो समझना चाहिये कि यह बात अपने धर्म से कुछ संबन्ध नहीं रखती, केवल यवनभय से अपने आधुनिक पण्डितों ने भी एक दो जगह इसका भय दिखला दिया है। वास्तव में पुत्री का रजस्वला के पश्चात् विवाह करने मे पाप है या नहीं है, इस बात को समाज के नेता और पण्डितों को तय कर लेनी चाहिये, अन्यथा इसी बहाने से सैकड़ों बालिकाओं को जन्म से ही विवाह की बेड़ी पहननी पड़ती है।

मैंने जहाँ तक देखा है, किसी प्राचीन ग्रन्थ में, मासिक-धर्म के पहले ही विवाह हो, यह नियम देखने मे नहीं आया। वरन्

इसके विपरीत प्रमाण मिलते हैं। पक्ष छोड़कर पण्डित-जनों को इस बात की खुलासा करना चाहिये।

बहुत से मनुष्य कहते हैं कि हमारे बच्चे यदि विवाह नहीं करेंगे तो व्यभिचारी हो जायेंगे, परन्तु यह हेतु भी गलत है। आज हम अपनी पुत्री के बिगड़ने के भय से विवाह कर देवें परन्तु यदि कल वह विधवा हो जावे तब भी तो हमें ही रक्षा करनी पड़ेगी। और, नित्य प्रति ऐसा देखा ही जाता है कि कोई भी ऐसा घर नहीं दीखता जहां विधवा बालिका न हो। जिस प्रकार विधवा बहिनें जन्म भर अपने शील की रक्षा करती हैं, तथा घरवाले उनकी सुशीलता की रक्षा करवाते हैं, उसी प्रकार यौवन होने पर भी ४-६ वर्ष कुमारी बालिका तथा कुमार क्यों नहीं रह सकते? अवश्य ही रह सकते हैं। जिनकी शिक्षा अच्छी हुई है वे बालक बालिका अपने बाल्यकाल में कभी निन्दनीय व्यभिचार नहीं करेंगे। यदि माता-पिता चाहें तो जरासी दृष्टि रखने से ही, २० वर्ष तक पुत्र एवं १६-१७ वर्ष तक पुत्रियां, योग्य रीति से ब्रह्मचर्य्य पाल सकती हैं।

जिन घरों में हमारी भोली बहिनें बहुत छोटी अवस्था में ही पुत्र पुत्रियों के संग विवाह की कथा कहना प्रारम्भ कर देती हैं "यह देखो मुन्ना की सास है," "यह देखो मुन्नी का बन्ना है," ऐसे ऐसे शब्दों से बच्चों को विवाह का स्मरण दिलाती रहती हैं, उनके बच्चे शीघ्र ही व्यसन-सेवन में चतुर हो जाते हैं और जो सुज्ञ माता-पिता अपनी सन्तान को इस

व्यवहार से वचाये रहते हैं उनके वालक योग्य ब्रह्मचर्य धारण कर सकते हैं।

मदालसा रानी की कथा प्रसिद्ध है कि वह वड़ी चतुर और विरक्त-मार्ग-प्रिय थी। इसका विवाह होने के पश्चात जब पुत्र उत्पन्न हुआ तो पालने में लिटा कर नित्य-प्रति धार्मिक भजन गा गा कर शिक्षा दिया करती थी। "शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमायापरिवर्जितोऽसि" अर्थात् तू शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, संसार की माया से अलग, है। ऐसे ऐसे पदों को गाती जाती थी और हाथ से पालना हिलाती जाती थी। निदान, जब पुत्र वड़े हुए तो इतने विरक्त हुए कि वन में तप करने चले गये, तब सास ससुरादि सब ने मदालसा को बहुत तग किया। कहा कि वहू तो घर मे डाइन आई है। इसके सब वच्चे वैरागी हो गये, इस वात पर मदालसा ने सब को संतोष दिलाया और कहा कि अब का पुत्र ऐसा न होगा। तदनुकूल जब अन्तिम पुत्र उत्पन्न हुआ तब उसको वैराग्यरस नहीं पिलाया, वरन् पालने पर ही से सासारिक शिक्षा दी। "यह तेरा पिता है, यह मामा है, यह काका है, यह तेरा कपड़ा है" इत्यादि इत्यादि शब्दों को सुनाते सुनाते उस वच्चे को सांसारिक वासना की रुचि भलीभांति उत्पन्न हो गई। और वह अन्यान्य गृहस्थो की भांति सब काम करने लगा। अतएव, जो कुछ मनुष्य के स्वभाव मे हेर-फेर दीखता है वह विशेषकर माता पिता के अधीन है।

काल को दोष न देकर तथा और कोई बहाना न बनाकर युक्तिपूर्वक अपनी सन्तान की रक्षा करनी उचित है।

ब्रह्मचर्य अलौकिक बन्धु है। इसकी सहायता से समस्त कार्यों में विजय प्राप्त होती है।

सिन्दूर प्रकरण में कहा है :—

हरति कुलकलङ्कम् लुम्पते पापपङ्कम्
सुकृतमुपचिनोति श्लाघ्यतामातनोति
नमयति सुरवर्गं हन्ति दुर्गोपसर्गम्
रचयति शुचि शीलम् स्वर्गमोक्षौ सलीलम् ॥१॥

इसी पर बनारसीदास जी लिखते हैं —

कुल कलंक दलमलहिं, पापमल पंक पखारहिं ।
दारुन संकट हरहिं, जगत महिमा विस्तारहिं ।
सुरग मुकति पद रचहिं, सुकृत संचहिं करुणारसि
सुरगण वंदहिं चरन, शील गुण कहत बनारसि ॥

ऐसे अपूर्व शील की योग्य रक्षा के अभाव से ही भारत रोग और दारिद्र के फन्दे में फँसा है।

विद्या-साधन भी बिना ब्रह्मचर्य के निर्विघ्न समाप्त नहीं हो सकता। ब्रह्मचारी का मस्तक शान्ति और स्मरण-शक्ति को अच्छा रखता है। इस लिये जब तक विद्याभ्यास जारी रखना हो ब्रह्मचर्य व्रत अवश्य सुदृढ़ रखना चाहिये।

विवाह होने के पश्चात् भी नियमित भोग भोगने से ही सांसारिक और पारमार्थिक सुख मिल सकता है। जो स्त्री-पुरुष विषय-सेवन में अत्यन्त रागी हो जाते हैं, उनका शरीर शीघ्र क्षीण हो

जाता है तथा सन्तान उत्पन्न नहीं होती। भारत में प्राय: बड़े बड़े घरानों में पुत्र-जन्म नहीं होता और मोल लड़का लेकर लोगों को अपनी पुत्रेच्छा पूरी करनी पड़ती है। इसका मुख्य कारण यही है कि धनाढ्य लोग अन्धे होकर अपरिमित स्त्री-संभोग करते हैं, जिससे वीर्य अशुद्ध हो जाता है और सन्तानोत्पत्ति के योग्य नहीं रहता। इन सब घोर दु:खों को शमन करने में समर्थ एक ब्रह्मचर्य्य ही है। जो लोग विवाहिता स्त्री से गर्भाधान के समय पर ही रमण करते हैं, उन्हें यह दु:ख नहीं उठाना पड़ता। उनकी सन्तान सुयोग्य हृष्ट-पुष्ट होती है—स्वपति-पत्नी को भी पर्व के दिनों में—जैसे अष्टमी, चतुर्दशी, पञ्चमी इत्यादि तिथियों में, तथा उपवास-व्रतों की अन्यान्य तिथियों में तथा तीर्थयात्रा में—पूर्ण ब्रह्मचर्य्य रखना चाहिये। थोड़े थोड़े समय की मर्य्यादा सदैव करते रहना योग्य है। इस विधि से वहुत सी निर्जरा होती रहती है। कर्म अपना अशुभ विपाक तीव्रता से नहीं दे सकते।

इसी से पुण्य का फल भी हो सकता है। जो विरक्त गृहस्थ हैं उनकी प्रशंसा मुनियों ने भी की है। वे गृहस्थ अपने समय में वहुत सा यश लाभ कर स्वपर-हित साधन कर सकते हैं, क्योंकि जो मनुष्य परिमित-भोगाभिलाषी हैं, उनका शरीर चित्त सब ही स्वाधीन रहता है। इसके विपरीत जो विषयों मे वहुत रत हैं, वे कामाग्नि में पतङ्गवत् जल जाते हैं।

वर्तमान में भारतवासियों की वीमारी की परिस्थिति सर-

कारी गज़ट में जो निकलती है, उसको देखने से ज्ञात होता है कि अपने यहां क्षयरोग कितना बढ़ गया है। औसत में इस ने प्लेग का रूप धारण करना प्रारम्भ कर दिया है—कोई प्रान्त ऐसा नहीं है जहां तपेदिक के रोगी न मिलेंगे। प्रायः नवयुवकों को ही यह दबाता है और घोल घोल कर अन्त कर देता है। इस रोग पर कोई औषधि काम नहीं देती, क्योंकि यह रोग सब शरीर के अवयवों को प्रारम्भ में ही अति दुर्बल, शक्तिहीन और शून्य करता आता है। जब कभी किसी रोग को कुछ फायदा होता है तो केवल परहेज करने से होता है।

यदि हमारे बन्धु-भगिनी-गण अपने ब्रह्मचर्य्य को ठीक रक्खे, याने किशोरावस्था तक पूर्ण ब्रह्मचर्य्य और फिर युवावस्था में स्वस्त्री-सन्तोष और स्वपति-सन्तोष रूपी ब्रह्मचर्य्य अणुव्रत को धारण करें तो कदापि यह भयङ्कर रोग उनको न सताने पावे। जब तक शरीर में वीर्य शुद्ध रहेगा, क्षय रोग कभी नहीं हो सकता।

संसार के प्राणी सुख चाहते हैं, सब को उत्तम बुद्धि और बलिष्ठ शरीर की चाह बनी रहती है, परन्तु यह हो तभी सकता है जब कि विषय सेवन नियमित रूप में किया जावे। अन्यथा, विषय-वासना बढ़ने पर और उसकी पूर्ति में लगने पर शरीर सुखी नहीं रह सकता। सुख शान्ति में है। विषय सेवन भी इन्द्रियों को शिथिल करने के हेतु ही प्रकृति ने स्वीकार किया है।

गृहस्थ को भोगो की आज्ञा उसी समय तक है जब तक कि उसकी इन्द्रियाँ किसी प्रकार शान्ति प्राप्त न कर लेवें। अन्यथा, विषयों में कुछ भी सुख नहीं है।

विषय वासना घटत ही, आतम सुख प्रकटाय।
स्थिर-चित्त की चन्द-छवि, अमृत देत पियाय॥
विषय-भिन्न नर चित्त में, ज्ञान चाँदनी छाय।
सरब पदारथ प्रकट कर, मारग देत बताय॥

स्थिरचित्त मनुष्य ही अपना तथा पर जीवों का कल्याण कर सक्ता है। सांसारिक पारमार्थिक दोनों प्रकार के कार्य्यों को सम्पादन करने मे बुद्धि और शरीर-बल की आवश्यकता पड़ती है। जैसे जैसे बल बुद्धि श्रेष्ठ होती जाती है, वैसे वैसे ही मनुष्य उच्चावस्था को प्राप्त होता जाता है। मनुष्य को सदैव अपनी अवस्था पर ध्यान रखना चाहिये। विचारते रहना चाहिये कि मैं किस सीढ़ी पर हूँ। पहले की अपेक्षा ऊँचा जा रहा हूँ या नीचे गिर रहा हूँ? यदि प्रत्येक कर्म से ऊँची अवस्था में हो तो ठीक है परन्तु नीची अवस्था ठीक नहीं है। यदि बिगड़ना आरम्भ हो जायगा तो पतन भी अवश्य होगा। ऊँचे चढ़ने में दो सीढ़ियाँ हैं। एक अन्तरङ्ग एक बहिरङ्ग।

इन्द्रियों को वश में करके मनोबल बढ़ाना अन्तरङ्ग सीढ़ी है। और शरीर-सम्बन्धी सुख शान्ति बढ़ाना बाह्य सीढ़ी है। जब तक अन्तरङ्ग मार्ग ठीक नहीं होता तब तक बाह्य सुख अनेक उपाय करने पर भी नहीं मिलता।

अन्तरङ्ग मनोबल बढ़ाने में कितने ही साधनोपायों की आवश्यकता पड़ती है। जिस प्रकार कुटिल घोड़े को वश में करने के लिये ऊपर की अनेक सामग्रियों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार चित्त को शान्त करने के लिये भी ऊपरी उपायों की आवश्यकता है।

धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ते रहना, श्रेष्ठ पुरुषों का चरित्र पढ़ना इन सब प्रयत्नों से मन वश में रहता है। क्योंकि बिना धार्मिक शिक्षा के मनुष्य में वास्तविक दृढ़ता नहीं आती। जिस प्रकार बिना नींव का मकान अस्थिर रहता है, उसी प्रकार धर्म-रुचि-रहित पुरुष का व्रत धारण करना अस्थिर है। सत्र-चूड़ामणि में कहा है—

"ज्ञानं यत्र विवेकनीरोघः, रागाग्नि केन शाम्यति।"

अर्थात् ज्ञानरूपी जलधारा न हो तो रागरूपी अग्नि किससे शान्त हो सकती है?

वास्तव में पापों से अपना आत्मसुख नष्ट होगा ऐसा भय जब तक उत्पन्न नहीं होता तब तक विषयों से बचना अत्यन्त कठिन है। अतएव गृहस्थ सब बन्धुओं का परम कर्त्तव्य है कि अपने पुत्र और पुत्रियों को धार्मिक शिक्षा देकर ब्रह्मचर्य के गुण बतलावें।

यदि मनुष्य के अन्तरङ्ग में धर्म नष्ट होने का भय बना रहे और ऊपर से समाज के नियम सुदृढ हो तो अन्याय-सेवन का अवसर कभी आने ही न पावे।

वर्तमान समय मे ये उभय-बन्धन ढीले पड़ गये हैं। इसी कारण व्यभिचार सेवन अधिकता से होने लगा है।

धार्मिक शिक्षा के अभाव से मनुष्यों का हृदय अन्धकार-मय हो रहा है। इधर वेश्यानृत्य, बाल-वृद्ध-विवाह, कामोत्पादक नाटक और उपन्यासों का पठन पाठन, इन कुरीतियों ने ज़ोर पकड़ कर ऊपर से सर्वनाश किया है।

आत्महितेच्छु बहिन-भाइयों को चाहिये कि इन कुरीतियों को न अपने हाथो से करे और न बाल-बच्चों को लेकर ऐसी जगह जाकर सम्मिलित ही होवे जहाँ वेश्या-नृत्य होता हो, जहाँ अनमेल विवाह हो, जहाँ काम-कथा का प्रसङ्ग हो।

यह आगे लिखा जायगा कि सङ्गति का प्रभाव बिना हुए नहीं रह सकता। अतएव, यदि अपनी सन्तान को योग्य बनाने की अभिलाषा है तो कामोत्पादक सङ्गति से बचाओ तथा ऐसे ऐसे निमित्त मिलाओ जिनसे यह चित्त शान्त, स्वाधीन हो जावे।

अपने पूर्वजों ने जाति-बन्धन इसी हेतु से किया था कि जब कोई अनुचित कार्य करे, शीघ्र ही उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जावे, तथा जातीय-दण्ड देकर प्रायश्चित्त कराया जावे। और इसी मार्ग से बहुत दिनों तक भारत मे अन्तरङ्ग अन्याय बचता चला आया। परन्तु अब लोगों ने इस बन्धन को भी शिथिल कर दिया है।

जब तक मनुष्य राजदण्ड-योग्य अपराध न करे, तब तक

कोई बन्धन ही नहीं है, न पञ्चों का भय है, न पञ्चायत का भय है । इसी कारण आज नवयुवकों की यह अवस्था हो रही है कि खुले दहाड़े वेश्या-सेवनादि करते नहीं डरते और जब पति की यह अवस्था हो जाती है तब पत्नी की सँभाल भी कठिन है । अतएव नवीन वधुओं का भी बुरा हाल हो जाता है । उत्तरोत्तर परिणाम यह होता है, दिन दिन वर्णसङ्कर सन्तति फैलती जाती है तथा शरीर, बल, बुद्धि सब क्षीण होती जाती है । और अन्याय अभक्ष्य की रुचि बढ़ती जाती है ।

ब्रह्मचर्य प्रकृति-जन्य धर्म है । इसको बिगाडने से अपने जाति के मनुष्यों की प्राकृतिक अवस्था भी बदलती जाती है । जैसे लम्बे चौड़े मनुष्य प्रथम होते थे वैसे अब नहीं होते । यद्यपि अन्न धन के अभाव से भी मनुष्य दिन ब दिन हीन दीन होते जाते हैं तथापि शरीर के सगठन मे मुख्य कारण माता-पिता के ब्रह्मचर्य का बिगाड़ ही है ।

अहा ! वे दम्पती कितने सुखी हैं, जिन्होंने अपने विद्याध्ययनकाल मे पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत पाल कर अन्त में २० या २५ वर्ष की अवस्था में गृहसंभोग किया है । उनका प्रेम, उनकी शक्ति, उनका सुख, और उनकी सन्तति जैसी होती है, वह बालक या व्यभिचारी गृहस्थ की नहीं हो सकती ।

जिस प्रकार हीरे की खान में हीरा और पत्थर की खान

से पत्थर निकलता है, उसी प्रकार योग्य माता-पिता ही योग्य सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं।

अहा! स्वपत्नी-सन्तोष नामक ब्रह्मचर्य तो इतना सुख देने वाला है और जो आजन्म पूर्ण-ब्रह्मचर्य पालते हैं उनकी महिमा कौन वर्णन कर सकता है! शास्त्रों मे कहा है, "इच्छा-निरोधस्तप" इच्छा रोकना तप है। जो मनुष्य अपनी विषय-वासना को रोक कर अपना तथा पर का हितसाधन करते हैं, उनको धन्य है। वे ही मनुष्यों के सच्चे पथ-प्रदर्शक हैं।

भारत यद्यपि अवनति-दशा में आ गया है तथापि यह धार्मिक सत्वों को सुरक्षित रखने के कारण पृथ्वी पर एक ही नामी देश है। आज भी जहाँ तहाँ इसमें कितने ही ब्रह्मचारी साधु दीखते हैं। तथा अभी यहाँ कितनी ही कुलीन विधवा बहिनें ब्रह्मचारिणी दीखती हैं। इन ब्रह्मचारियों की प्रशंसा चाहे भारत मे न हो, परन्तु विदेशों में सर्वत्र है तथा इतिहास-पुराणों में सर्वदा इनका नाम अमर रहेगा।

हमारी विधवा बहिनों को पति-वियोग का सन्ताप करके निरन्तर रोना-धोना नहीं चाहिये, वरन् इस क्रिया से अब उनको पाप लगता है। वैधव्य अवस्था में प्रथम भोगे हुए समस्त भोगों को भूल जाना चाहिये, किसी भोग का स्मरण कदापि न करना ही उचित है तथा अपने ब्रह्मचर्य को स्थिर और शुद्ध रखने का प्रयत्न करना चाहिये।
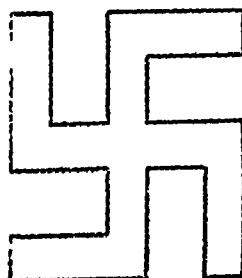
ब्रह्मचर्य्य ।

बहिनों ! जो व्रत योगियो के लिये दुर्लभ है वह व्रत विधवाओं को मिला है । यदि इसी एक व्रत को आप शुद्धता से पूर्ण करेंगी तो अति उत्तम अकथनीय फल प्राप्त कर स्वर्ग-मोक्ष की भागिनी बनेंगी ।

लीला तलाव मम उदधि जल, गृह समान अटवी विकट ।
इहि विधि अनेक दुख होहिं सुख, शीलवन्त नर के निकट ॥
—कवि बनारसीदासजी

सत्संगति ।

संगति के दो भेद हैं । सत्सगति—भलों का साथ । कुसगति—बुरो का साथ । सत्संगति जैसी अपूर्व सुखदायिनी है, वैसी ही कुसंगति भी घोर दु खदायिनी है । सत्संगति के प्रभाव से जो आत्मा उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच सकता है उसी आत्मा का कुसंगति के योग से अध पतन हो जाता है । वह अवनति के अन्धकूप मे गिर पड़ता है ।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे जो उन्नति की ओर झुकाव दीख पड़ता है सो केवल सुसंगति का ही प्रभाव है ।

कोई मनुष्य अपने को कितना ही सुदृढ़ क्यों न समझे, परन्तु संगति के प्रबल प्रभाव के सामने किसी की दृढ़ता नहीं ठहरने पाती । संगति का प्रभाव अचल से अचल मन पर भी अवश्य पडता है । साथ वालो का प्रभाव अन्तरात्मा पर इतनी सूक्ष्मता से पड़ जाता है कि जिसका पता स्वय भी नहीं लग सकता । कुछ समय के बाद स्वत· स्वभाव बदल कर साथियों

के समान होने लगता है। इसी से महात्माओं ने कुसंगति को त्याज्य बतलाया है। महात्मा भर्तृहरि ने कहा है—

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि॥ १॥

अर्थात्—वनवासियों के साथ पहाड़ों पर घूमना अच्छा है। परन्तु इन्द्र के महल में रहकर भी मूर्खों का साथ अच्छा नहीं होता।

मनुष्य को निरालसी होकर उत्तम संगति का आश्रय खोजना चाहिये। सत्संगति का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। हम लोग प्रत्येक स्थान में प्रत्येक समय में इसे पा सकते हैं। इस का पालन करने के लिये हमें उचित है कि हम सदाचारी स्त्री व पुरुषों के सहवास में यथायोग्य मर्यादा और नियम के साथ रहें। उत्तमोत्तम पुस्तकों का पाठ करें, जिनका प्रभाव मन में सद्गुणों का बीज उगावे। सदाचारी विद्वानों से सदुपदेश सुनने का योग मिलाते रहें और उपदेश के सार को मनन कर उसे अच्छी तरह स्मरण रक्खें। दुष्टों का साथ तजें उनकी बातों पर विशेष ध्यान न दें। अपने कानों को उनकी खोटी ध्वनि से बचावें। अपने से पूज्य गुणियों, महात्माओं तथा साधुओं की प्रशंसा करें। उनकी यथायोग्य सेवा, भक्ति और विनती करने में दत्तचित्त रहें। बड़ों से विनय करें। अपने से छोटों से अच्छा वर्ताव करें।

इनके विपरीत जो चलते हैं उन्हें सत्संगति से होने वाले

उत्तम उत्तम लाभ प्राप्त नहीं होते । सज्जनों के समागम का सौभाग्य विनयादि सद्गुणों के सहारे से ही होता है ।

कुग्रामवास त्यागना भी सत्संगति के लिये आवश्यक है । जहाँ असभ्य, मूर्ख, दुराचारी, कलही, पापी, झूठे, धूर्त और असाधु मनुष्यों की अधिकता हो, वहाँ वसना महा हानि-कारक और दुखदायी है । सत्संगति का सच्चा प्रभाव तभी तक दृढ़ बना रहेगा जब तक कुसंगति की गन्दी कीचड़ के छींटें न पड़ें ।

यदि कोई ऐसा विचार करे कि कुग्राम में और दुष्टों की मण्डली में रहकर भी सत्यता और साधुता निबाहने में हम स्थिर रहेंगे तो यह बात बिलकुल असम्भव है ।

दुराचारी शठों के मलिन शरीर से स्पर्श होकर जो वायु लौटती है वह निकटवर्ती अन्य मनुष्यों के शरीर में प्रवेश करके उनके अन्तरङ्ग को भी मलिन बना देती है । वचनों और कार्य्यों में भी ऐसा ही प्रखर प्रभाव है । दुर्जनों के वाक्य भी कुप्रभाव डालते हैं और कार्य भी गहरी छाया पास-पड़ोस में फैलाते हैं ।

कुसंगति में अनेक बुराइयाँ हैं । शरीर क्षय और अपयश तथा धर्म-विध्वंस तो प्रत्यक्ष हैं । धन-हानि और मान-हानि भी साथ ही साथ हैं । किन्तु जितने शुभ विचार और शुभ कार्य्य हैं, जितने अच्छे अच्छे गुण और उत्तम उत्तम लाभ हैं, सभी सत्संगति के ही सुन्दर फल हैं ।

पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में मिलता है कि—"जिस स्थान में ध्यानी मुनि समाधि-मग्न हो बैठते थे, वहां दुष्टों की दुष्टता नहीं चलती थी। उस स्थान पर वे भी शान्त भाव से स्थिर होकर बैठ जाते थे। ध्यानी मुनि के ही प्रभाव से सिंह और हिरन एक साथ वन में विहार करते फिरते थे। जैसे, चन्दन वृक्ष के निकटवर्ती वृक्ष भी सुगन्ध उत्पन्न करने लगते हैं। इसी प्रकार, मुनि की शान्यमुद्रा का दर्शन और उनके विमल शरीर की शुद्ध वायु का स्पर्शन दुष्ट जीवों की खलता दूर कर के उन्हे शान्त और स्थिर कर देता था। यही अवस्था आज भी प्रत्यक्ष होयती है—

"जैसी संगति वैसी सम्पति"

अथवा

"जैसा संग वैसा ढंग"

यहां पर अब उन बहनों, सखियों और कन्याओं को विशेष ध्यान देना चाहिये जिनकी अवस्था १५-२० वर्ष की हो चली है। कारण यह है कि इतनी ही अवस्था से वे बहुतों को अपना मित्र बनाने लगती हैं। अर्थात् अपनी सहेलियों के स्वभाव की कड़ी परीक्षा किये बिना ही उनसे स्नेह और सम्बन्ध कर लेती हैं, जिसका फल अंत में कष्टकर होता है। यद्यपि अनेक मित्र रखने से सुख मिलता है और प्रसन्नता होती है तथापि बहुत मित्रों से नेह-छोह लगाने के समय कुसंगति और सुसंगति के प्रभाव को कभी भूलना नहीं चाहिये।

अपने से जो लोग बुद्धि, विवेक, विचार, बल, विद्या, आदि में हीन और गये-बीते हों तथा जिनकी प्रकृति निर्मल न हो, लत बुरी हो, अभ्यास गन्दे हों, ऐसे मनुष्यों को साथी-संगी बनाना बड़ा भयङ्कर और अनुचित है। अतएव सुशील, साधु, विनयी, चतुर, मतिमान् और स्वस्थ तथा स्वच्छ मनुष्य से संगति करनी चाहिये। क्योंकि मित्र की संगति अपना पूरा प्रभाव अवश्य डालती है।

यदि दैवयोग से ऐसा कोई समय आ जाय कि पराधीन होकर कुसंगति में रहना पड़े तो वहां भी अपने शक्ति पर विश्वास कर अपने चंचल मन को ज्ञान का शुद्ध भोजन देकर पुष्ट करता रहे और विश्वासपूर्वक अपने को सम्भालता रहे। प्रयत्न तो ऐसा करना चाहिये कि जितने दुष्ट साथी हैं वे सब के सब सुधर जायँ, सुमार्ग पर आ जायँ, कच्चे से सच्चे बन जायँ। किन्तु यदि ऐसा होना असम्भव मालूम हो तो कम से कम अपने को भी बचा लेने की चेष्टा में रहे। अपना मन शुद्ध विचारों में लगाये रहे। उत्तमोत्तम पवित्र पुस्तकादि पढ़ता रहे, जिससे सद्गुणों का गाढ़ा असर कुसंगति के बुरे असर का घात कर सके। ठीक उसी तरह जैसे, प्लेग और हैज़े आदि बीमारियों में वैद्य हकीम डाक्टर लोग बड़े सावधान रहते हैं। स्वयं भी बेदाग़ बचे रहते हैं और योग्य उपचार से रोगियों को भी अच्छा कर देते हैं। परन्तु जो असावधानी से काम करते हैं वे धोखा खाते हैं और इन महामारी बीमारियों के ग्रास बन जाते हैं।

सत्संगति।

हमारी किसी बहन, सहेली या कन्या को यदि कभी कहीं कोई कुसंगति का योग आ जाय तो योग्य डाक्टर के समान बच कर कुसंगति की दवा करके सुसंगति में पलट देना चाहिये। यदि तुम विदुषी हो तो तुम्हारी अच्छी संगति तुम्हारे सम्बन्धियों को ज्ञानी बना देगी, पास-पड़ोसवालों को सुधार देगी, कुसंग से पल्ला छुड़ाकर तुम्हारा बेड़ा पार कर देगी। यदि तुम जागती रहोगी तो तुम्हारी सुसंगति घर वालो पर पूरा प्रभाव डालेगी। यदि आलस्य की गाढ़ी निद्रा मे पडी रहोगी तो उनकी कुसंगति तुम्हारे हृदय पर धाक जमा लेगी।

थोडे दिनों का सत्संग भी बड़े काम का है। सत्सङ्ग किसी को सदा प्राप्त नहीं होता। बडे भाग्य से कभी कभी किसी किसी को कहीं कहीं मिल जाता है। परन्तु जीवनकाल मे थोडे काल का संतसमागम भी यदि प्राप्त हो जाय तो उससे पूरा पूरा लाभ उठा लेना मुख्य कर्त्तव्य है।

मनुष्य को चाहिए कि उत्तम संसर्ग से प्राप्त हुए गुणों और विचारों को सदा काम में लाता रहे। उन्हें सदा ध्यान मे रख कर आगे बढे। अपनी रहन-सहन और अपना आचार-विचार उत्तमजनों के समान बनाने का प्रयत्न करता जावे। श्रेष्ठ मनुष्य का नमूना मन में रख कर सदा अपना आत्मबल बढाता चला जाय।

यह आत्मबल तीन प्रकार की उन्नति करने से बढ़ सकता है। (१) शारीरिक (२) मानसिक (३) धार्म्मिक।

(१) शरीर को नीरोग रखना, हृष्ट-पुष्ट चंगा बने रहना, परिश्रम करने का अभ्यास डालना, कष्ट सहन करने की शक्ति बढ़ाना, ये ही शारीरिक उन्नति के लक्षण हैं। यह उन्नति समय पर, ऋतुओं के अनुकूल शुद्ध भोजन-पान करने से तथा ब्रह्म-चर्य्य व्रत पालन करके अच्छी तरह परिश्रम और व्यायाम करने से होती है।

(२) विद्यालाभ करने से तथा सत्पुरुषों के चरित्र पढ़ने से जो ऊँचे ऊँचे उद्देश्य होते जाते हैं वही मानसिक शक्ति की वृद्धि है। मन के विकारों को शमन करने से, अभिलाषाओं को शान्त करने से, ईर्षा द्वेष चिन्तादि से दूर रह कर पृथिवी के सम्पूर्ण पदार्थों के सच्चे स्वरूप के विचार में अपनी ज्ञान-शक्ति को काम में लाने से मनुष्य की मानसिक उन्नति होती रहती है।

(३) धर्म-प्रेम बढ़ाना, धार्म्मिक ग्रन्थों को पढ़ना, उनके गूढ़ तत्वों को समझना, उनके अनुकूल चलना, दूसरों को धर्मोपदेश देना, इत्यादि धार्म्मिक उन्नति के शुभ लक्षण हैं।

जिस मनुष्य ने उपर्युक्त तीनों प्रकार की उन्नति नहीं की है, उसके विचार संकुचित रहते हैं। उसके आत्मबल का विकाश नहीं हो सकता। अतएव मनुष्य को चाहिये कि जिस प्रकार हो सके अपने संकुचित विचारों को नाश कर आत्मोन्नति कर आत्मबल बढ़ावें।

बहुत से बन्धुओं का ऐसा खोटा विचार है कि स्त्रियाँ

आत्मवश के योग्य नहीं हैं । हमारी भोली भाली बहिनें भी यही समझ बैठी हैं । वस्तुतः यह बात सर्वथा निर्मूल है । पूर्वकाल में इसी भारत में कैसी कैसी गुणवती स्त्रियां हो गई हैं, जिनके नाम स्मरण करने से ही चित्त पवित्र हो जाता है । सतीत्व का विकट व्रत निबाहनेवाली साध्वी सीता देवी का शुभ नाम अमर हो ही चुका है । धर्म-प्रेम में दृढता दिखलाने वाली चेलना रानीजी का नाम भी धर्म-प्रेम में अमर रहेगा । लीलावती आदि का नाम विद्या-शिक्षा में अमर रहेगा ।

पूर्व में अपने जीवन को निष्कलङ्क और शुद्ध बनानेवाली सुचरित्रा देवियों के निर्मल चरित को पढना व उस पर दृढ अनुराग रखना प्रत्येक बहिनों का प्रधान कर्तव्य है । वर्त्तमान युग में भी जो गुणवती बहिनें आदर्श मानी जाती हैं उनका समागम मिलाना, उनके समागम से अपने को धन्य और पवित्र बनाना, उनकी सेवा और पूजा करना, उनका अनुकरण करना सभी बहिनों, सहेलियों और कन्याओं का कर्तव्य है ।

इस पृथिवी पर जितने प्रसिद्ध और माननीय पुरुष हो गये हैं, तथा जितनी सती देविया हो गई हैं, सबों की उन्नति, ख्याति और कीर्ति सुसंगति के प्रताप से ही हुई है । अत. सत्संगति ही सब प्रकार से कल्याणों की देनेवाली और मगल करने वाली है । इसी के आश्रय से हम लोगों का जीवन आदर्श बन सकता है ।

जब तक कोई उच्च आदर्श सामने न रक्खा जाय तब तक

आदर्श जीवन नहीं बनता । इसी आदर्श को वचनान्तर से सत्-संगति कहते हैं । सत्संगति ही जीवन को सार्थक बनाती है ।

जिस प्रकार सुनार-लुहार लोग नमूना देखकर एक से एक उत्तम सुन्दर वस्तु रच और गढ़ लेते हैं उसी प्रकार सत्पुरुषों और महात्माओं के सद्गुणों को स्मरण करने से असत् हृदय भी सत् हो जाता है ।

हृदय के विचारों के अनुकूल और समान ही मनुष्य की चालचलन–प्रकृति–भी बन जाती है । श्रेष्ठ पुरुषों का कथन है कि "जिस वस्तु को छोड़ना चाहो उसे बार बार घृणा की दृष्टि से देखो और उसे तुच्छ से भी तुच्छ समझो । ऐसा करने से जन्म भर का अभ्यस्त दुराचरण भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । किन्तु, जिस काम को अच्छा और लाभदायक समझते हो उसे आदर की दृष्टि से निहारो और उसकी चिन्ता में सदा तत्पर रहो । ऐसा करने से अत्यन्त कठिन से कठिन कार्य भी बड़ी सुगमता से सफल हो जाता है ।"

कोई भी उत्तमोत्तम कार्य्य अथवा उत्तमोत्तम आविष्कार किसी 'निमित्त' के देखे या सुने बिना नहीं हो सकता और न कभी हुआ ही है । बड़े बड़े लोगों ने जो कुछ अपने और पराये के हित का मार्ग अन्वेषण किया है वह किसी महात्मा के उपदेश से, प्राकृतिक दृश्य की सहायता से अथवा किसी उत्तम ग्रंथ के मनन करने से ही किया है ।

मनुष्यों की संगति ही संगति नहीं कहलाती । जिन निर्मल

पदार्थों से अपने चरित्र में स्वच्छता और शुद्धता का संचार हो और हृदय को परिष्कृत करने में जिन विमल वस्तुओं का न्यूनाधिक प्रभाव पड़े, वे सब के सब 'संगति' के ही रूपान्तर मात्र हैं। जैसे, कोई मनुष्य मूर्ख है। सुअवसर पा कर उसे समाचारपत्रों के पढ़ने का सौभाग्य हुआ और क्रमशः वह सार्वजनिक कार्यों में योग-दान देने लगा। धीरे धीरे उसकी मूर्खता मिट गई और वह व्यापार-कुशल हो गया। ऐसी अवस्था में समाचारपत्रों को ही "संगति" का आश्रय मानेंगे। ग्रन्थों के मनन से जो ज्ञान उपार्जन होता है वह उनकी निरन्तर "संगति" का ही मधुर फल है।

लोग कहते हैं कि धर्मात्माओं और विद्वानों का बड़ा अभाव है। इसीसे महापुरुषों की सुसंगति भी दुर्लभ वस्तु है। किन्तु, यह विचार भ्रममात्र है। संगति केवल मनुष्य के शरीर से ही नहीं होती। उनके पास चिपके रहने से ही लाभ नहीं होता। सैकड़ों कोसों दूर रह कर भी हम उनकी संगति का प्रभाव अपने चरित्र पर डाल सकते हैं। उनके गुणों को विचारने से, उनकी अच्छी अच्छी पुस्तकों के पढ़ने से, उनके विमल विचारों को मनन करने से, उनके उपदेशों और आदेशों के अनुकूल चलने का अभ्यास करने से, साधु-सन्तों की सेवा-सुश्रूषा करते रहने से और माननीय तीर्थङ्करादि की दिव्य मूर्ति देखते रहने से भी बड़ों बड़ों की संगति का लाभ सहज ही में प्राप्त हो सकता है।

बहिनो! यद्यपि सुसंगति सदा नहीं प्राप्त होती है, तथापि यदि भाग्यवश कहीं प्राप्त हो भी जावे तो सहस्रों कार्य्यों को पीछे डाल कर महात्माओं के उपदेश-वाक्यों को सुनने का अवसर निकाल लेना चाहिये। जहाँ तक अपनी सामर्थ्य भर बन पड़े उनकी सेवा भी तन-मन-धन लगा कर पूज्य-बुद्धि से करनी चाहिये।

आज कल ऐसा बहुत देखा जाता है कि यदि कोई महात्मा गाँव गाँव, नगर नगर में अपने ज्ञानपूर्ण उपदेशों द्वारा विचलित-पथ मनुष्यों को सुधारता चलता है तो उसे उपयुक्त पात्र ही नहीं मिलते। महात्मा की इच्छा रहती है कि हम सभी लोगों के कानों में संसार के सुकृत्यों का संवाद सुनावे पर कोई सुनने वाला हो तब तो? किसी को उपदेशामृत से अपने हृदय को पवित्र और ज्ञान को अमर बनाने का अवकाश ही नहीं मिलता। न तो पुरुषों को सांसारिक प्रपञ्चों से छुट्टी मिलती और न तो हमारी बहिनों और पुत्रियों को घरेलू धंधे और ताश-चौपड़ के खेलने से छुट्टी मिलती। इसी प्रकार अवसर हाथ से निकल जाता है। चूक जाने पर पछताना हाथ रहता है। बस, समय पर जो लोग चूकते हैं वे कभी ऊँचे नहीं उठते।

बहिनो! ऐसे बर्ताव से न तो सुसंगति मिल ही सकती है और न मिलने से कुछ फल ही प्राप्त हो सकता है। जब हम गुणियों का मान करना सीखेंगे तभी गुणी जन हमारे पास टिकेंगे। जब हम कुमार्गी खलजनों से घृणा करना सीखेंगे तभी

वे हमारा पल्ला छोड़ेंगे या अपना दुराचरण सुधारेंगे । यदि हम इन दोनों बातों में से एक के करने में भी आलस्य करेंगे तो हमारे किये कभी कुछ न होगा । हम अपनी दशा से कदापि न उठ सकेंगे । हमारी उन्नति सपने की सम्पत्ति हो जायगी ।

अच्छा, यदि हम लोगों की इच्छा आत्मसुधार की है तो सज्जनों में वात्सल्य-भाव बढ़ाना चाहिये । उनके प्रत्येक श्रेष्ठ कार्य्य में सहायता देनी चाहिये । यदि हम लोगों की सत्य भावना होगी कि सत्संगति मिले, तो अवश्य ही सत्संगति प्राप्त होगी, कुसंगति से छुटकारा हो जायगा और यह मानव-जीवन धन्य धन्य होकर सार्थक बनेगा ।

सेष सारदा व्यास मुनि, कहत न पावैं पार ।
सो महिमा सतसंग की, कैसे कहै गँवार ॥

पातिव्रत ।

कोकिलाना स्वरो रूपं , नारीरूपं पतिव्रतम् ।
विद्यारूप कुरूपाणाम् , क्षमा रूपं तपस्विनाम् ॥

—चाणक्यनीतिः ।

र्थात् कोकिला का मीठा गाना ही उसका सुन्दर रूप है । और स्त्रियों की सुन्दरता उनका पातिव्रत धर्म है । इसी प्रकार कुरूपों की सुन्दरता विद्या है, और तपस्वियो का रूप उनकी क्षमा है ।

सत्य है, संसार के प्राय सर्व ही सज्जन लोग पातिव्रत-धर्म की प्रशसा मुक्तकण्ठ से करते हैं । स्त्रियों का सब से बडा भूषण पतिसेवा ही है । भारतवर्ष इसी पातिव्रत-धर्म के बल से आज तक स्थानीय स्त्रियो की प्रसिद्धि देशदेशान्तरों में कर सका है । अन्यान्य देशों की महिलाएँ अनेक गुणों को धारण करती हुई अनेक विद्या-कला-कौशल का भण्डार स्वरूप होती हुई भी भारत की पवित्र सती की तुलना किसी प्रकार नहीं कर सकतीं ।

पातिव्रत।

सांसारिक सुख दाम्पत्य-प्रेम के अधीन है। जिस जगह दम्पती समुचित हैं, वहाँ धनादि का उपयोग करके तथा सन्तान के द्वारा मनुष्य को सांसारिक सुख का अनुभव हो सकता है। परन्तु इसके विपरीत जहाँ पत्नी मूर्ख और पातिव्रत-धर्म से अनभिज्ञ हैं वहाँ सुख-शान्ति कदापि नहीं रह सकती। बहुत ऐश्वर्य-कुटुम्बादि रहने पर भी यदि पत्नी पति के साथ और पति पत्नी के साथ उचित वर्ताव करना नहीं जानते तो वह गृह कदापि सुखदाई नहीं हो सकता। इस अवस्था का मानचित्र प्राय नित्यप्रति अपने देश मे अच्छी तरह देखने में आता है, तथा पुराणों में अनेक कथायें ऐसी लिखी मिलती हैं जिनसे पातिव्रत के होने न होने के लाभालाभ भली भांति ज्ञात होते हैं।

वर्तमान मे भी अनेक उपन्यास इसी लाभालाभ को प्रकाशित करने के हेतु लिखे गये हैं।

हमारी पढ़ी लिखी बहिनें प्राय सभी उपन्यास पढ़ती रहती हैं। अतएव सब को ज्ञात हो चुका होगा कि पति पत्नी के प्रेमाभाव से कितनी हानियाँ होती हैं।

अतएव यहाँ पर इस विषय को छोड़ कर केवल यही विचार करना है कि पातिव्रत-धर्म का स्वरूप वास्तव में क्या है? पति की आज्ञानुसार केवल विषयकषायो का सेवन करना ही पातिव्रत-धर्म नहीं है, वरन् पति के हितानुकूल आचरण करना ही वास्तविक पातिव्रत है।

अपने मन-वचन-काय से सदैव पति के हित का प्रयत्न करती रहती हैं तथा स्वार्थ को तिलांजलि देकर अपने तथा पति के सुधार पर तत्पर रह कर सदा पति-आज्ञा शिरोधार्य करना ही सच्चा पतिव्रत-धर्म है।

पतिव्रता स्त्री अपने पति को सदैव गौरव की दृष्टि से देखती है, चाहे कुरूप हो, धनहीन हो, परन्तु उससे घृणा नहीं करती, पति के सुख में सुखी तथा दुःख में दुःखी होकर पति का सुख दुख बटाती हैं।

"गृहिणी गृहमुच्यते" इस वाक्यानुसार स्त्री ही गृह है अतएव गृहस्थ के समस्त कार्यों की जड़ है। हमारी नववधुयें खूब बढ़िया बढ़िया वस्त्रों को पहन कर तथा आभूषणों से सज धज कर पति को मोहित करना और नाना प्रकार के हावभाव से पति के विद्याभ्यास में तथा विदेश गमन में भी साथ रहना चाहती हैं। साथ रह कर विषय-वासना को पूर्ण करना ही बहिनो ने पतिव्रत-धर्म मान रक्खा है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

यह तो योरोपीय पतिव्रत है कि चित्त में आया तो पति के साथ साथ कण्ठ से लगी लगी फिरीं और मन न चाहा तो झटिति विवाह का इस्तीफ़ा देकर बन्धन से मुक्त हो गईं। बस, अब इस बर्ताव ने भारत मे भी पदार्पण करना प्रारम्भ कर दिया है, जिसके परिणाम से आज पतिव्रत पाताल में जारहा है।

बहिनो ! भारत-सतियों का व्रत बडा गहना है। इसको

धारण करने से ही मोक्ष सफल हो सकता है । इस व्रत मे निम्न-लिखित क्रियायें सहायक हैं:—

(१) जिस दिन से विवाह हो उसी समय मन-वचन-तन से "आजन्म मैं इन पति देव की दासी रहूँगी," ऐसी प्रतिज्ञा करना । कोई कैसा ही श्रेष्ठ मनुष्य क्यों न मिले इससे विशेष किसी को न समझूँगी । कभी अपने पति को घृणा की दृष्टि से न देखूँगी ।

(२) एक इसी विवाहित पति को अपना सर्वस्व समर्पण करती हूँ । वह स्वदेश मे रहे वा विदेश मे रहे या किसी अवस्था में अथवा परलोक में रहे मैं अपने सर्वस्व को नहीं लौटाऊँगी । अर्थात् अन्य पुरुष पर कुदृष्टि नहीं डालूँगी ।

(३) पति की आज्ञा का उल्लङ्घन न करूँगी, परन्तु यदि वह कुमार्ग-रत हो तो उसके सुधारने का प्रयत्न अवश्य करूँगी, इत्यादि प्रतिज्ञा करना ।

(४) पति के साथ कलह न हो इस पर सदैव ध्यान रखना तथा शृङ्गारादि जितने वह योग्य समझे उतने ही करना, विरोध न करना, पति की सेवा करना इत्यादि नियमों का धारण करने से ही स्त्री पतिव्रता हो सकती है । इन नियमों के विपरीत सती कहना हास्यास्पद है । पूर्व में सती सीता, चेलना, अञ्जना आदि सबों ने इन नियमों का आचरण किया था । अनेक कष्ट आने पर भी अपने पतिप्रेम को नहीं छोड़ा । वर्षों जङ्गल झाड़ियों मे घूमते हुए भी

अपना सतीत्व नहीं विगाड़ा । फिर लौट कर आने पर भी पति से किसी प्रकार का वदला नहीं लिया ।

पूर्व सतियाँ अपना साथ रहना पति के सुख के लिये ही आवश्यकीय समझती थीं । हमारी वहिनो को भी चाहिये कि वे पूर्व सतियों का अनुकरण करें । विद्याध्ययन के काल में या सम्पत्ति-उपार्जन के काल में अपने पतिदेव को किसी प्रकार का कष्ट न दें। उनको वाहर रहने से न रोकें, उन से अपने लिये वस्तुओं की याचना न करें, वरन् शान्तिपूर्वक स्वहित करने की प्रेरणा करें । जब वे अपने कार्य से परिपक्व होकर घर आ जायँगे तब गृहिणी को ही सुख देंगे । ऐसे ही विचार रक्खें ।

अपने पति की इच्छा पूर्ण करना स्त्री का मुख्य कर्तव्य है । जिस प्रकार पति पूर्णतः सन्तुष्ट रहे उसी प्रकार रहना उचित है । यदि वह कोई वस्तु अपनी इच्छा से देवे तो अत्यन्त प्रेम से ग्रहण करना चाहिये। चाहे क़ीमती हो या तुच्छ हो, चाहे मनोहर हो या अमनोहर हो, परन्तु "मान का पान हीरा समान" इस लोकोक्ति के अनुसार उस वस्तु को सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिये । स्त्री का शृङ्गारादि पति की प्रसन्नता के लिये ही है । अतएव उसके सन्तोष से ही सन्तुष्ट होना काफ़ी है ।

व्यर्थ वस्त्राभूषणों के लिये पति को तङ्ग करना धर्मपत्नी का कर्तव्य कदापि नहीं है ।

पति की आज्ञा का पालन करना अत्यावश्यकीय है, परन्तु

वर्तमान में इसने विलक्षण स्वरूप धारण किया है। पति के साथ अभक्ष्य भक्षण करने में, तथा व्यसन सेवन करने में तो स्त्रियाँ आज्ञा का पालन करती हैं, जिससे अपना तथा पति दोनो का अकल्याण होता है परन्तु पति की हितकारी शिक्षा नहीं मानतीं।

बहिनों! ऐसा करना पतिव्रत नहीं है और न यह आज्ञा-पालन ही है।

सब बातों में पति की आज्ञा मानो। जिस तरह वह रक्खे रहो। परन्तु कुमार्गगामिनी मत बनो।

पति के साथ अन्याय-मार्ग का आश्रय करने से न तुम्हारा कल्याण है न तुम्हारे पति का, जिस प्रकार अपने बच्चे को बुखार चढा हो और वह अपथ्य भोजन माँगे तो कोई मनुष्य नहीं देता और यदि दे दे तो महामूर्ख कहलाता है, उसी प्रकार यदि भाग्योदय से पति कुसङ्ग में पड़ जावे तो तुम कुसङ्ग-गामिनी मत बनो। निरन्तर पति को सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करो। पति की शिक्षा-दीक्षा सब पत्नी के अधीन है। वह सब कर सकती है। कोई बात ऐसी नहीं है जिसे पत्नी चाहे और न कर सके।

श्रेणिक राजा बौद्ध धर्म का कितना बड़ा श्रद्धानी था। परन्तु अन्त में चेलना ने अपने धर्म में मिला लिया। यहाँ तक कि क्षायक सम्यग् दृष्टि हो गया।

यदि हमारी नवीन वधुएँ प्रारम्भ से प्रयत्न करें तो आज

भारत में व्यभिचारी तथा अन्यायी मनुष्यों का नाम मात्र भी कठिनता से रहने पावे।

जिस प्रकार हो सके योग्य वैद्य की तरह पति का हित करते रहना ही पातिव्रत है।

बहिनो! सासारिक प्रत्येक काम आपके ही अधीन है।

भार्य्याधीनं सुखं पुंसां, भार्य्याधीनो धनागमः।
भार्य्याधीना सुखापत्ति, भार्य्याधीन सुखोदय.॥
—पाराशरस्मृति.

वास्तव मे पत्नी योग्य गुरु, योग्य मित्र और योग्य वैद्य सब से बढ़कर मनुष्य का इलाज कर सकती है। प्रेम एक बड़ा भारी पाश है। इस रस्सी के फन्दे में पड़कर मनुष्य बाहर नहीं निकल सकता। अतएव जो चतुर पत्नी अपने पति का चित्त भली भाँति आकर्षित कर लेती है वह उस पर प्रत्येक प्रकार का अधिकार कर लेती है। कितने ही स्थलो पर देखा गया है कि प्रथम अवस्था में मनुष्य कुचरित्र होने पर भी सुयोग्य पत्नी के साथ विवाह होने पर सुधर जाते हैं।

मनुष्य प्रेमी के वचनों का बहुत विश्वास करता है। स्त्री में प्रेमाधिक्य होने के कारण उसके कहने का प्रभाव पति पर विशेष पड़ सकता है।

नीतिकारों का वचन है—

'भार्य्यासमं नास्ति शरीरतोपणम्"

अतएव प्रत्येक धर्मपत्नी का काम है कि वह अपने पति को सुमार्ग पर चलने की प्रेरणा करके सहायक बने।

जगत् विख्यात रावण की पतिव्रता स्त्री मन्दोदरी ने सीता-हरण के विषय में रावण को कितना समझाया था। सीता से बलात्कार करने से भी कितनी बार रोका था।

अन्यान्य भी कितनी ही ऐतिहासिक सतियों ने अपने पतियों को अन्याय से रोका तथा सत्कर्म का उपदेश दिया है।

तुम उन कार्य्यों से अनभिज्ञ मत रहो। नित्य प्रति उसकी चर्चा करके हानि-लाभ का विचार करो। यदि पति किसी प्रकार अवनति-मार्ग पर है तो सावधान कर देना या उनकी अनुपस्थिति में शक्ति भर उनके काम को सँभालना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

भारत-बहिनों को पति-प्रेम की शिक्षा देना व्यर्थ है, क्योंकि भारत की देवियां स्वभाव से ही पति को सर्वस्व समझती हैं, परन्तु ऐसी होने पर भी असावधानी के कारण उचित लाभ से वञ्चित रहती हैं।

कितने ही स्थलों में देखा जाता है कि महीनों से पुरुष कुमार्गी हो रहा है—चोरी कर रहा है, डाका दे रहा है, परन्तु पत्नी को खबर तक नहीं है। जब हथकड़ी हाथ में डालकर जेल में जाता है तब खबर होती है।

ऐसे स्थलों पर पत्नी की असावधानी ही कारण है। यदि विचारपूर्वक पति की सेवा-शुश्रूषा की जाय तथा सदैव उनके कृत्यों पर ध्यान दिया जाय तो ऐसा अवसर कभी नहीं आने पावे।

ज्योंही पति का अनुचित वर्ताव देखने सुनने में आवे उसे जिस प्रकार हो रोक दो।

कवियो का वचन है—

कार्य्येषु मन्त्री, करणेषु दासी, भोज्येषु माता, रमनेषु रम्भा।
धर्मानुकूला, क्षमया धरित्री, भार्य्या च षाड्गुण्यवती च दुर्लभा॥
—कालिदास।

अर्थात् कामकाज में मन्त्री के समान सलाह देनेवाली, सेवादि में दासी के समान काम करनेवाली, भोजन कराने में माता के समान पथ्य भोजन कराने वाली, शयन के समय लक्ष्मी के समान सुख देनेवाली और धर्म के अनुकूल तथा क्षमादि गुण धारण मे पृथिवी के सदृश हठ करनेवाली, ऐसे छः गुणों से युक्त स्त्री सुदुर्लभ होती है।

बहिनों। जबकि अर्द्धाङ्गिनी के षड्गुण ग्रन्थकारों ने वर्णन किये हैं तब प्रत्येक स्त्री का कर्तव्य है कि वह अपनी सच्चरित्रता से पति के सम्पूर्ण कार्य्यों मे सहायता दे। उसकी प्रशंसा मे अपनी प्रशसा समझे तथा उसकी अपकीर्ति मे अपनी निन्दा समझे। केवल सुख का साथी बनना धर्म-पत्नी का कर्तव्य नहीं है।

पति जिस आजीविका को करता हो, जिस व्यापार को करता हो, अर्धाङ्गिनी को उचित है कि यदि पति पढ़ा लिखा पण्डित है तो स्वय भी पण्डिता बने, यदि पति परोपकार-रत है तो स्वयं भी परोपकारिणी बने, इस प्रकार प्रत्येक सद्-गुण का अनुकरण करना ही पतिव्रता का धर्म है।

पति-सेवा करना भी पातिव्रत का मुख्य अङ्ग है। अपने देश की बहिनों को ही यह सौभाग्य प्राप्त है कि वे अपने को पति-देव की दासी कह सकती हैं। अन्यत्र इतनी सभ्यता और पवित्रता पति-पत्नी में नहीं पाई जाती।

भोजन-शयन-मर्दन इत्यादि सर्व कार्य्यों मे पति की सेवा करते रहना प्रत्येक पतिव्रता का धर्म है। व्यापारादि किसी भी प्रकार के कार्यभार से परिश्रान्त पति जब घर पर आवें, शीघ्रही सम्मुख खड़े होकर विनय करना, भोजन पान की व्यवस्था करना, मिष्ट वचन बोलना, इस प्रकार उनकी थकावट शांत कर देनी चाहिये। योग्य पति को योग्य पत्नी से जैसा सन्तोष होता है, वैसा और किसी से नहीं होता।

सेवा पूजा से देवता भी प्रसन्न हो जाते हैं। मनुष्य की क्या कथा है? जो देवी पतिसेवा करना जानती है, उसको कभी सांसारिक कष्ट नहीं भोगना पडता। जिसका पति प्रसन्न रहता है उससे सब घर राजी रहता है। वर्तमान में जो नवयुवकों का व्यसनसेवन, वेश्या, जूआ आदि दिखलाई देता है उसमें केवल पुरुषों का ही दोष नहीं है वरन् अधिकांश दोष हमारी नववधुओं का ही है। वे अपने पतियों को प्रसन्न नहीं रख सकतीं, सेवा नहीं कर सकतीं, इसी कारण पति मनमाने उपद्रव करते हैं।

यदि वधुयें अपना प्रेम-जाल बिछाना भली भाँति जान जायँ

तो किस पति का साहस है कि उसे उल्लङ्घन कर जावें? किसी का नहीं। हर्गिज़ नहीं।

यदि पति क्रोधवश कभी अपमान भी कर देवे तो भी पतिव्रता को घृणा न करनी चाहिये। वरन् यथाशक्ति सेवा-शुश्रूषा, विनय, सम्मान करके पति को प्रसन्न कर लेना चाहिये।

इस व्यवहार से आगे आगे क्लेश न बढ़ कर शान्ति बढेगी अन्यथा परस्पर कलह होकर दुःख बढेगा।

दो प्रेमियों का झगड़ा बहुत बुरा होता है। पति पत्नी के क्लेश समान दूसरा क्लेश पृथवी पर नहीं है। इस लियें सदैव सप्रेम रह कर पतिव्रत की रचा करनी चाहियें। भारत की देवी सदैव पति को पूज्य समझती है। वास्तव में पूज्यभाव ही कल्याणकारी है।

जिस प्रकार सुवर्ण के हार बनाने में दो कड़ियों का परस्पर संगठन तभी होता है जब कि हलके दर का सोना सिरे पर लगाया जावे अन्यथा झाल नहीं लगती। यदि सुनार गहने और झाल दोनों के सुवर्ण को एक से दर्जे के रक्खे तो हार बनना कठिन हो जावे अतएव "नरम गरम" का ही मेल ठीक मिलता है। यदि दोनों पदार्थ समान गुणवाले होंगे तो परस्पर बंध नहीं हो सकता।

इसी नियमानुसार बहिनों को यदि पतिप्रेम बढ़ाना है तो दासीभाव ही श्रेय है। तभी अलौकिक प्रेम हो सकेगा तथा
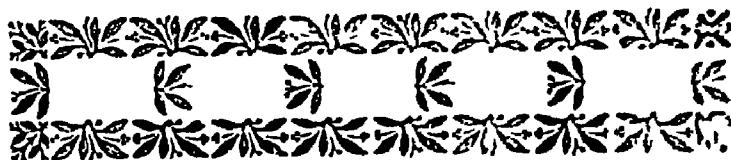
तभी पति की सेवा भी हो सकेगी। अन्यथा "जो तुम सो हम" इस विदेशी ढंग से विकृत प्रेम ही उत्पन्न होगा, शुद्ध नहीं। अतएव, सर्व-प्रकारेण अभिमान का त्याग कर पति-सेवा करनी चाहिये।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी यही उपदेश दिया है.—

भानु पीठ सेइय उर आगी।
स्वामिहिं सेइय सब छल त्यागी॥

एकता।

—०—
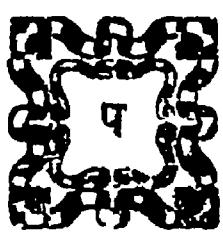
परस्पर मित्रता से हिल-मिल कर रहना और कलह विसंवाद को छोड़ना ही एकता है।

एकता का क़िला बड़ा प्रौढ़ है। इसके भीतर रह कर कोई प्राणी दुःख नहीं भोगता।

जितने महत्त्वशाली कार्य हुए हैं, सब एकता के बल से ही हुए हैं। एक बारीक सूत का तन्तु कितना कमजोर है, परन्तु उन्हीं सैकड़ों तन्तुओ का समूह एक रस्सा है, जो कि हाथी को भी बाँध सकता है।

यह फल उस एकत्रता का ही है। इसी प्रकार जिस घर मे, जिस कुटुम्ब मे, जिस देश में एकता है वह घर कुटुम्ब और देश बड़ा शक्तिशाली है।

इसी ऐक्य गुण के कारण राजा राज्य चलाता है, गृहस्थ घर का प्रबन्ध करता है तथा परोपकारी लोग परोपकार कर सकते हैं।

एकता।

प्रतापशाली एवं बुद्धिमान् मनुष्यों के हृदय मे स्वभाव से ही यह गुण होता है।

अच्छे लोगों के साथ प्रायः सभी घर बाहर के लोग प्रसन्न रहते हैं, और प्रत्येक कार्य में सहायता देते हैं।

परन्तु इसके विपरीत जो मूर्ख और वक्र स्वभाव के धारक हैं, उनमें एकता का गुण निवास नहीं करता और इस एकता के गुण की कमी से ही घर नरक समान एवं कलह विसवाद का स्थान बन जाता है।

जिस प्रकार कपोतादि पक्षियों में तथा हिरणादि सरल पशुओं में स्वभाव से ही एकता रहती है, वे सब साथ साथ रहते हैं, मिल बांट कर चारे को खाते हैं, परन्तु कुत्तों मे एकता नहीं पाई जाती। चार छः एकत्र हुए कि परस्पर झगडा होने लगता है। उसी तरह मूर्ख कुटुम्ब मे भी झगड़ा होता रहता है, तथा नाना प्रकार के त्रास बने रहते हैं।

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना॥

—तुलसीदास

इस वाक्यानुसार आज भारतवर्ष मे आपत्ति विपत्तियों का आक्रमण दिन दिन दूना होता जाता है।

भाई भाई मे परस्पर एकता नहीं है, पिता पुत्र में एक मत नहीं है, सास बहू में एकता का भाव नहीं है, इस फूट का परिणाम हीन भारत के लिये बड़ा ही विपत्ति-जनक है।

इस देश में धन की अत्यन्त कमी है। प्रत्येक मनुष्य की आय एक आने रोज़ की भी कठिनता से पड़ती है। डि० वी साहिब के कथनानुसार प्रत्येक भारतवासी की तीन पैसा रोज़ाना आमदनी है। ऐसे अवसर पर समस्त कुटुम्बियों का परस्पर मिल जुल कर रहना अति आवश्यकीय है।

एकता का और मित्रता का बड़ा सम्बन्ध है वरन् यों कहना चाहिये कि यह दोनों एक ही हैं। केवल वचन मात्र का भेद है।

अतएव, एकता की प्राप्ति तभी हो सकती है जब मैत्रीभाव की योग्य शिक्षा मनुष्य प्राप्त कर लेवें।

जो प्रेमी आत्मा हैं उनका कोई शत्रु नहीं रहता। अतएव, स्वय सब से ऐक्य हो जाता है। उनकी भावना इस प्रकार रहती है,—

द्वेष भाव में आग लगा कर,
झूठ और अन्याय भगाकर।
सब पर प्रेम वारि ढारेंगे,
भारत के सुकार्य सारेंगे॥

—प्रेमपुष्पाञ्जलि

जब प्रत्येक मनुष्य के भीतर प्रेम-भाव प्रकट हो जाता है तब परस्पर की फूट बहुत कम हो जाती है। और एकता का साम्राज्य आ जमता है।

इसी प्रकार फूट के दूर करने में सहनशक्ति भी बड़ी सहायिका है। जिस मनुष्य का स्वभाव बहुत तेज़ होता है, उसके लिए

सर्वत्र क्लेश ही क्लेश उपस्थित रहता है। वह तेज़ी में आकर झट से बिगड़ बैठता है। इसी बिगाड़ के कारण—भाई से, पड़ोसियों से, जातिवालों से, सब से द्वेष हो जाता है, कोई साथ नहीं देता।

अतएव, प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि पारस्परिक प्रेम एवं सहिष्णुता के बढ़ाने का प्रयत्न करता रहे।

जिस प्रकार मैत्री आदि गुण एकता के साधक हैं, उसी प्रकार कतिपय नियम बाधक भी हैं। यदि निम्नलिखित बातों का ध्यान मनुष्य सदैव रक्खें तो अनेकता न होने पावे, एवं एकता का छत्र बना रहे।

चुगली करना—जो मनुष्य चुगलखोर होता है, उससे कोई भी मेल नहीं रखता। ज़रा सी चपलता के कारण बन्धु-बान्धव सब ही भिन्न भाव से देखने लगते हैं। सब का यह ख़याल होता है कि अमुक काम इसके सम्मुख न करें, कहीं जाकर इधर उधर कह देगा तो हमारी गृहस्थी की हँसी होगी। बस, इन विचारों से चुगलखोर में अन्यान्य गुण रहने पर भी अन्तरङ्ग मेल नहीं रह सकता।

हमारी बहिनों को भी सदैव इसका ध्यान रखना चाहिये। कदापि एक मनुष्य का अवगुण दूसरे के सामने न कहना चाहिये। बहुत से लोगों का स्वभाव पड़ जाता है कि जहाँ दस पाँच जन इकट्ठे हुए कि इधर उधर का पचडा निकाला, किसी के सर सच्चा और किसी के सर झूठा दोष, नमक

मिरच लगा लगा कर, ठोकने लग जाते हैं और घंटे दो घंटे इस बकवाद से मनोरञ्जन कर सब अपने अपने स्थान को चल देते हैं ।

इस कार्य से कुछ लाभ नहीं होता, वरन् महा पाप होता है । सैकड़ों मनुष्य शत्रु बने रहते हैं ।

जब कभी कोई काम आ अटकता है तब प्रत्येक मनुष्य कहने लगता है कि, यह वही हैं जिन्होंने अमुक समय पर हमारी बुराई की थी । ऐसा कह कर साथ नहीं देते ।

इसी प्रकार स्वार्थपरता एवं भेद-भाव भी एकता का विरोधी है । जो मनुष्य अपने मतलब गाँठने में ही मस्त रहता है, उससे क्रमश. अन्य मनुष्य भिन्न हो जाते हैं । माता हो या पिता हो. भाई हो या पति हो, स्वार्थी से सब घृणा करने लगते हैं । चाहे स्वार्थी ऊपर से मीठी मीठी बातों से अपने आश्रित जनों को या गुरुजनों को फुसलाकर मिलाता रहे, परन्तु तो भी उसका जाल अधिक काल तक नहीं ठहरता. अवश्य ही सब का जी खट्टा हो जाता है ।

माता-पिता अपने पुत्र पर तभी तक शासन कर सकते हैं जब तक कि वह स्वार्थी न हो ।

इसी प्रकार राजा भी प्रजा पर तभी तक शासन कर सकता है जब तक कि स्वार्थपरता न हो । वरन् कोई स्वार्थी का सगा नहीं होता, समय पड़ने पर सभी बिछुड़ जाते हैं ।

हमारी भोली बहिने इस एकता से बहुत पीछे हटी पड़ी

हैं। परस्पर कलह करते करते पुरुषों के कान यहाँ तक भर देती हैं कि उनमें अवश्य ही अनैक्य आजाता है। कोई अपना व्यापार पृथक् करना चाहता है, कोई अपना घर अलग बसाता तो कोई अपनी अन्यान्य वस्तुओं को पृथक् करना चाहता है, इसी उधेड़-बुन में समस्त शक्ति नष्ट होती रहती है। हमारी नव वधुएँ योरोपीय ढंग से अपनी सास ससुर से पृथक् रह-कर स्वच्छन्दता प्राप्त करना चाहती हैं, परन्तु यह स्वच्छन्दता सुखदायिनी नहीं है।

भारत में इतना द्रव्य नहीं है, इतना प्रबन्ध भी नहीं है जिससे बहिनें पृथक् आनन्द से रह सकें। तथा आपत्ति विपत्ति के समय में अपनी रक्षा कर सकें। बहुधा वधुएँ प्रथम अपने बड़े जनों से वैमनस्य कर बैठती हैं, परन्तु पश्चात् जब कि प्रसूति आदि का संकट आता है तब नाना प्रकार की यातनायें भोगती हैं, इसी प्रकार एक पिता की छाया में पाँच भाई सुख से रोटी खाते हैं, परन्तु ज्यों ही पिता का देहान्त हुआ कि धन का बटवारा कर कोई किधर जाता है, कोई किधर जाता है। चतुर किसी प्रकार गुजारा भी कर लेता है तो मूर्ख अवश्य उस सम्पत्ति को खोकर दुःख उठाता है।

इन सब दुःखों का कारण एक अनैकता ही है। यदि परस्पर हिलमिल कर प्रेमभाव से रहना प्रत्येक नर-नारी अपना कर्तव्य समझें तो सहज में सुख-शान्ति की वृद्धि हो जावे। एकता के अभाव से ही आज पञ्च पञ्चायतों का प्रभाव

भी कम हो गया है। इसके कारण नित्य-प्रति जरा जरा से झगड़े कोर्ट में जाते रहते हैं और भारतवासियों का धनाभाव बढ़ा जाता है। मनुष्य को प्रत्येक कार्य के सम्पादन करने में एकता की आवश्यकता है जिस कार्य को अकेला मनुष्य जन्म भर परिश्रम करने से भी नहीं कर सकता, उसी कार्य को बहुत से मनुष्य मिलकर क्षणभर में कर लेते हैं। प्रत्यक्ष नित्य-प्रति के व्यवहारों में हम लोग देखते हैं कि एक मनुष्य को दूसरे जन-समूह की कितनी बड़ी आवश्यकता है।

यदि एक विवाह घर में रचाया जावे तो नाई, पुरोहित, हलवाई आदि कितने जनों की आवश्यकता पड़ती है। यदि ये लोग न आवें तो सारा रंग फीका पड़ जावे। इसी प्रकार घर मे एक मृत्यु हो जावे तो शीघ्र ही कई मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती है। यदि घर में रोग फैल जावे तो शीघ्र योग्य वैद्य डाक्टर की आवश्यकता होती है। तात्पर्य्य यह है कि छोटे से छोटे कामों में भी अन्य मनुष्यों की सहायता लेनी पड़ती है, तब महत्त्व के कार्य्यों का तो कहना ही क्या है?

यदि तुम्हे रण में विजय लाभ करना है तो अनेकों प्राणियो के साथ अपने को एकता के सूत्र मे बाँधना पड़ेगा। यदि धार्मिक कार्य्य करना है तो धर्मात्माओं से मिलकर चलना होगा, यदि देश-सेवा करनी है, तो समस्त देशभाइयों के साथ एकता का व्यवहार करना पड़ेगा। कोई भी कार्य विना एकता के नहीं हो सकता। वर्तमान में लोग धार्म्मिक भेद के कारण भी परस्पर

एकता नहीं रखते, एक जातिवाला दूसरी जातिवाले से घृणा करता है। इसी कारण एकता का सूत्र टूट जाता है, परन्तु यह केवल भ्रममात्र है। वास्तव में विचार करके देखा जाय तो मनुष्य जाति व धर्म को पृथक पृथक रखते हुए भी सार्वजनिक कार्य्यों मे भली भाँति एक सूत्र मे बँध सकते हैं।

भारतवर्ष मे बहुत प्राचीन समय से ही धर्म तथा जाति के भेद चलते आए हैं, परन्तु पूर्वकाल में परस्पर घृणा नहीं थी। अपने अपने धर्म को धारण करते हुए भी मनुष्य सांसारिक कार्य्यों में एक दूसरे का अच्छी तरह साथ देते थे और परस्पर प्रेम रखते थे, इस बात के प्रमाण अभी तक मिलते हैं।

जहाँ तहाँ प्राचीन टीलो और पृथ्वी के खुदने पर कितने ही मन्दिर और मूर्तियाँ निकलती हैं, जिनमें कई २ धर्मों की मूर्तियाँ पास पास बैठी मिली हैं। बौद्धों के मन्दिर जैनियों के मन्दिर कितनी ही जगह साथ साथ निकले हैं। इसी प्रकार दक्षिण कर्नाटक देश में प्राचीन स्थानों पर कितने ही देवताओं के मठ पास पास बने मिलते हैं।

इससे यह प्रकट होता है कि यद्यपि ये लोग अपनी अपनी प्रतिमाओं को भिन्न भिन्न प्रकार से पूजते मानते थे, परन्तु परस्पर द्वेषभाव नहीं था। इसी प्रकार प्राचीन ग्रंथों में कितनी ही कथाएँ ऐसी हैं, जिनमें पति एक धर्म का अनुयायी और पत्नी किसी अन्य धर्म की मानने वाली लिखी है, परन्तु धार्मिक

त्रैधर्म्म रहने पर भी परस्पर समस्त व्यवहार सप्रेम और सुयोग्य लिखे मिलते हैं।

जब कि एक घर में भी मनुष्य धार्मिक बन्धन को रख कर निर्वाह कर सकता है तब समाज और देश के कार्य में हम लोगो को यह बंधन कदापि हानि नहीं पहुंचा सकता। बहुत लोगों का मत है कि जातिबन्धन तोड़े बिना भारत एक-मत नहीं हो सकता, परन्तु यह बात सत्य नहीं है। एकता को भंग करने वाले और और कारण हैं, केवल जातिबन्धन तोड़ने से ही एकता होती तो जिन देशो मे यह बन्धन नहीं हैं वहां कभी भी अनैक्य न दीखता, परन्तु ऐसा है नहीं। शिक्षा के न्यूनाधिक होने से सभी देशो मे परिवर्तन दीखता है।

यदि हमारे भारतीय बन्धु एवं बहिनें एकता के महत्त्व को समझ जावे, परस्पर प्रेम करना सीख जावें तो कदापि फूट नहीं हो सकती। जिस समय उन्नति अवनति की चर्चा हो, उस समय धार्मिक बातो को गौण कर विचार करना चाहिये कि सब देशवासी एक ही हैं। सब की भलाई से हमारी भलाई होगी और सब की बुराई से बुराई होगी।

जिस प्रकार किसी जंगल मे अग्नि लग जावे तो उस जगल के सभी जीव भस्म हो जाते हैं, उसी एक अग्नि में सिंह भी जलता है और उसी में गीदड भी जलता है। यदि सिह चाहे कि जगल जल जावे, गीदड जल जावे, परन्तु मैं न जलूँ, तो यह बात नही होस कती। यदि अग्नि

शान्त होगी तो सब की शान्ति होगी और जलेगी तो सब भस्म होंगे।

इसी प्रकार अन्तरङ्ग भेद होने पर भी कार्यक्षेत्र मे सब को एक होना परमावश्यक है ।

जब हम एक जाति व धर्म वाले को सहायता देंगे तब अवश्य ही वह भी हमारी सहायता करेगा ही, इसी प्रकार एकता बढ़ जायगी । एकता ही समस्त कार्य्यों की सञ्चालिका है । अतएव कोटि कोटि प्रयत्न करके अपने कुटुम्ब में, अपनी जाति मे, अपने देश मे एकता बनाये रखनी चाहिये ।

एक समय की घटना है कि भरतपूर राज्य के चारो ओर जो नहर खुदी है उसका बाँध टूट गया । एक दरवाज़े से पानी नगर में आना आरम्भ हो गया । नगर को जलमग्न होता देख कर स्थानीय जन व्याकुल हो उठे । राज्य की ओर से कितने ही मिस्तरी और मज़दूरों के प्रयत्न करने पर भी जल न रुक सका । अन्त में राजा साहिब स्वयं आकर अपने हाथों से काम करना प्रारम्भ करने लगे और ज्यों उनकी ऐसी चेष्टा देखी त्योंही समस्त प्रजा टूट पड़ी, फिर क्या था घंटों में ही सब काम ठीक हो गया । जल-मार्ग रोक दिया गया । यदि जन-समूह एक होकर प्रयत्न नहीं करता तो न मालूम कब तक कितना कष्ट उठाना पड़ता ।

इसी प्रकार हितोपदेश की कथा प्रसिद्ध है कि जब कबू-तर जाल में फँस गये थे और व्याध पकड़ने को आया था तब

एक के भी प्राण बचने की आशा न थी, परन्तु एकता देवी ने सहायता देकर प्राण बचाये। कपोतराज चित्रग्रीव के उपदेश से सब कबूतरों ने मिल कर ज़ोर लगाया जिससे कि सहज ही मे जाल को लेकर उड़ गये। व्याध देखता ही रह गया।

एकता के विषय में दृष्टान्तों की विशेष आवश्यकता नहीं है। इसका फल छोटे और बड़े सभी मनुष्य भली प्रकार जानते हैं, परन्तु अब कहना यह है कि जिस प्रकार हो सके इस गुण को अपने में आश्रय देना चाहिये। वर्तमान में इस देश में एकता इतनी घट गई है, कि इस मात्रा से काम कदापि नहीं चल सकता।

प्रत्येक उच्च घराने का नाश, प्रत्येक पञ्चायत का नाश, प्रत्येक जातीय सस्था का नाश, इस अनेकता ने ही कर रक्खा है। अतएव, हमारे प्रत्येक बन्धु एव भगिनी का यह मुख्य कर्तव्य है कि वह अपने में खोज विचार करके इस दुर्गुण को निकाल दें, तथा अपनी सन्तान को एकता के दृढ़ सूत्र से कभी खुलने न देवें, सदैव ऐसी शिक्षा देते रहें जिस से कुटुम्ब के युवक तथा युवती सब परस्पर मिल-जुल कर एक दूसरे के सहायक बनें। फिर देखिये आपके घर में कितनी शान्ति मिलेगी। फिर देखिये आपके विद्यालय, शिक्षालय, कितनी उन्नति करेंगे।

पूर्वकाल में अपने यहां धन धान्यादि सभी पदार्थ सब देशों से विशेष विद्यमान थे तथा सर्वत्र से विशेष सुख शान्ति थी परन्तु अनेकता होने के कारण सब नष्ट होकर प्रायः हीन दीन मृतावस्था हो गई है। अब भी एकता को प्राप्त कर सब कुछ हो सकता है।

शान्ति ।

शान्तितुल्यं तपो नास्ति, न सन्तोषात् परं सुखम् ।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्न च धर्मो दयापरः ॥१॥

अर्थात् शान्ति के समान तप नहीं है, और न सन्तोष से बढ़कर कोई सुख ही है, इसी प्रकार तृष्णा के समान दूसरा कोई रोग नहीं है तथा दयाधर्म के सदृश अन्य कोई धर्म नहीं है।

वास्तव में तप जपादि जितने भी सत्कर्म हैं सब शान्ति के आश्रय में ही सुरक्षित रह सकते हैं। अशान्त हृदय हेयोपादेय का विचार नहीं कर सकता।

जो कार्य्य सौम्य मनुष्य के लिये घृणास्पद है या त्याज्य है, उसी कार्य्य को अशान्त मनुष्य सहसा कर डालता है।

शान्ति का स्वरूप वर्णन करना अत्यन्त दुःसाध्य है, क्योंकि यह आत्मगम्य परिणाम है। इसका अनुभव भावों से ही हो सकता है।। शान्ति रूप विभव जिन मनुष्यों को प्राप्त हैं, वे भी इसकी परिभाषा वचन द्वारा पूर्णतया नहीं कह सकते।

इतना अवश्य कह सकते हैं कि शान्ति आत्मा का धर्म है। इसी शान्ति के द्वारा मनुष्य अपने आत्मीय सुख का अनुभव कर सकता है, वरन् यों कहना चाहिये कि शान्ति और सुख एक ही पदार्थ के नामान्तर हैं, क्योंकि इन दोनों का अन्वय-व्यतिरेक से सम्बन्ध घटित है। जहाँ पर शान्ति है वहीं सुख है, और जहाँ शान्ति नहीं है वहा सुख भी नहीं है। अनेक प्रकार की बाह्य सामग्री रहने पर भी अशान्त व्यक्ति को सुख नहीं मिलता। तथा ऊपरी चीज़ों के कम ज्यादे रहने पर भी शान्तचित्त मनुष्य सुखी रहता है।

जीवमात्र को सुख की चाहना बनी रहती है तथा इसी सुख की खोज मे समस्त जीवन बीत जाता है। परन्तु इस जीवन मे सुखी वही हो पाता है, जिसे शान्ति का मार्ग मिल गया है।

शान्ति प्राप्त करने के प्रयत्न अनेक महात्माओं ने कितनीही युक्तियों से पृथक् पृथक् बताये हैं। तथापि सब का अन्तिम सार यही है कि इन्द्रिय-दमन के साथ साथ आत्मबल को बढ़ाकर उसी पर सुदृढ़ रहने से शान्ति मिल सकती है। जो मनुष्य परावलम्बी है, लम्पटी है, साहस-हीन है, उसे शान्ति कदापि नहीं मिल सकती।

यह आत्मबल तभी बढ़ सकता है, जब कि मनुष्य अपने कर्तव्य को समुचित रीति से पूरा करना सीख जावे। जब तक कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं होता, तब तक लालच और

मोह के धोखे में मनुष्य अनेकों कुमार्गों में दौड़ता है और इसका परिणाम यह होता है कि कहीं से तिरस्कृत होकर और कहीं से अन्य कोई हानि उठाकर सदा अशान्ति का दुःख उठाता है। अतएव कार्य-परायणता भी शान्ति का मुख्य अङ्ग है।

यदि हमें शान्ति की चाहना है तो अपना प्रत्येक कार्य उसी मार्ग से करना उचित है, जिसमें आकुलता पैदा न हो।

समय पर उठना, समय पर शयन करना, समय पर भोजन करना, इत्यादि कार्य्यों को करना उचित है। स्त्रियां को गृह-कार्य करने में तथा पुरुषों को व्यापारादि कार्य करने में यदि लोभ अज्ञान और आलस्य न घेरें तो हम गृहस्थों की शान्ति की मात्रा बहुत बढ़ जावे।

मनुष्य के अन्तरङ्ग में ज्यों ज्यों लोभ कम होता जाता है त्यों त्यों उदारता बढती जाती है। और इस उदारता से आत्म-बल का प्रकाश होने लगता है।

इसी प्रकार अज्ञान के हटने से ज्ञान-साम्राज्य में शान्ति बढ़ती जाती है।

यहां पर सामान्य ज्ञान के साथ साथ कुछ धार्मिक ज्ञान की भी आवश्यकता है। क्योंकि धार्मिक ज्ञान से ही आत्मतत्त्व का बोध होता है और इसी तत्त्वज्ञान की शक्ति से मनुष्य अपनी सांसारिक वासनाओं से परिश्रान्त आत्मा को शान्त कर सकता है।

यद्यपि ऊपरी सुख-दु.ख की घटनाओं को मनुष्य अनेक शक्तियों—साधनोपायों—से घटा बढ़ा सकता है और कष्ट के आवेग को रोक कर आनन्द भी प्राप्त कर सकता है, तथापि इस पृथिवी पर ऐसे अनेक संग्राम हैं, जिन्हें मनुष्य प्रयत्न करने पर भी दूर नहीं कर सकता, तथा इस जीवन में अनेक ऐसी घटनाएँ हैं जिन्हें उच्च से उच्च मनुष्य को विवश होकर भोगनी पड़ती हैं।

ऐसे अवसरों में मनुष्य को शान्ति धर्म-ज्ञान के बल से ही मिल सकती है।

कभी कभी मनुष्य को ऊपरी सब पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी आकुलता हो उठती है, उस समय आत्मकष्ट को आत्म-ज्ञान ही दबा सकता है।

बहुत से आधुनिक विद्वान् आत्मकष्ट की शान्ति बाह्य वस्तुओं से करना पसन्द करते हैं, परन्तु वास्तव में यह बात ग़लत है। बिना आत्मज्ञान के आत्मशान्ति कहाँ ? अतएव शान्ति-प्रिय मनुष्यों का आत्मतत्त्व विवेचन करना भी मुख्य कर्त्तव्य है। इसी प्रकार आलस्य भी शान्ति का बलिष्ठ शत्रु है।

आलसी मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। इसी कारण हृदय मे जलता रहता है।

यदि कुटुम्बियों से व नौकर चाकरों से अपने प्रत्येक कार्य्य को करा भी लेता है तो भी परकृत कार्य से पूरा सन्तोष न होने के कारण दुःख होता है।

आलस्य से रोगादि भी बहुत घेर लेते हैं।

रोगी मनुष्य को अवश्य अशान्ति आ दबाती है। अतएव, आलस्य से मुक्त होना ही शान्ति का आश्रय है।

हमारी भारत-भगिनीगण अज्ञान और आलस्य इन दो दुर्गुणों के कारण बड़ी अशान्त रहती हैं।

विचारपूर्वक देखा जाय तो हमारी प्रत्यंक प्रवृत्ति अशान्ति से भरपूर है।

हमारे यहाँ घर में विवाह हो या और कोई जीवन जौनार हो या कोई पर्व त्योहार हो सब में महा आकुलता रहती है।

प्रथम ही विवाह सम्बन्ध को लीजिये—जिस मिती से सम्बन्ध ठीक हुआ, लगे कपड़े सिलने और गहने बनने, अमीर ग़रीब सभी अपनी अपनी हैसियत से दो चार डबल अधिक का काम अवश्य ही करेंगे।

शायद ही कोई भारतवासी ऐसा होगा जो इस अवसर पर काबू में रहता होगा।

इसका परिणाम यह होता है कि कोई तो कर्ज़ लेकर अशान्त होता है, कोई सम्पत्ति खोकर।

विवाह की रिवाज भी ऐसी ही विलक्षण है।

समस्त हिन्दू जातियाँकई कई दिनों में विवाह समाप्त करती हैं। इन दिनों में हमारी बहिनों का क्या काम है? दिन मे दस बार लहँगा पहनना, दस बार नथ पहनना, दस बार पीढ़ा पर बैठना, इधर कुम्हार का चाक पूजना, तो उधर धोबी का पाट

पूजना, इधर घूरा (घर का कूड़ा) पूजना उधर सती शीतला सवों का आह्वान करना, वस, इसी गोरखधन्धे में न शरीर का ध्यान है न और किसी उपयोगी काम का ही ध्यान रहता है। इस अवसर पर गृहिणी को जो अशान्ति रहती है, जिस चीरा-चौंथन में प्राण पड़े रहते हैं, उस अवस्था को या तो परमात्मा जानता है या जिस वहिन पर वीत चुकी है वही जानती होगी।

इसी प्रकार प्रत्येक पर्व पर ऐसे विलक्षण धन्धे वहिनें उठाती रहती हैं, जिनके आदि अन्त में कई दिनों तक भारी अशान्ति फैली रहती है।

अब प्रश्न यह होता है कि इन सव कामों में सुख के बदले दुःख क्यों? तो इसका उत्तर केवल यही मिलता है कि एक मात्र अज्ञान।

अज्ञान के कारण कावू से वाहर काम करना ही अशान्ति का निमन्त्रण है।

अतएव, प्रत्येक वहिन का कर्त्तव्य है कि वे अपनी झूठी आवश्यकताओं को विलकुल दूर कर देवें, तभी शान्ति होगी। प्रत्येक कार्य सरलता से करने में ही शान्ति है।

जो कार्य जितने ही समारम्भ से किया जाता है उसके आदि अन्त मे उतनी ही आकुलता होती है।

एक हमारे देशवासी जापान का हाल इस प्रकार वर्णन करते थे कि वहां के मनुष्य अपना मकान विशेष कर वहुत ही सादा बनाते हैं।

लकड़ी का मकान बहुत थोड़ी लागत में बन जाता है।

एक समय एक जापानी के मकान में आग लग गई। प्रयत्न करने पर भी नहीं बुझा। तब वह दूर खड़ा होकर हँसने लगा। थोड़ी सी भी मलिनता उसके मुख पर नहीं दीखती थी।

कहिये बहिनों! यदि यही मकान अन्य देशवालों का विशेष मूल्यवान् होता तो हँसी क्या मालिक के अश्रुपातों की धारा चल निकलती।

तात्पर्य्य यह है कि सरलता में ही शान्ति है।

प्रत्येक कार्य को आवश्यकतानुसार सज्ञान करने से ही शान्ति का लाभ हो सकता है।

जितने कषाय मन्द होंगे; क्रोध, लोभ, मान, माया जितने कम होंगे उतनी ही शान्ति बढ़ती जायगी।

संसार के प्रत्येक सु-आचरण में शान्ति का निवास है और प्रत्येक दुराचरण में पृथक् भाव है।

अतएव सुयोग्य आचरण करना और पापों का छोड़ना ही शान्त सुखी होने का उपाय है।

इसी कारण योगी को पूर्ण शान्त बतलाया है, क्योंकि उसके सुचरित्र के कारण उसका आत्मा अत्यन्त पवित्र होकर आत्मा ही में लीन रहता है।

बाहर की वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं रखता और इसी लिये आत्मशान्ति में अधिक भाग लेता है।

मनुष्य जितना जितना शान्त रहने का अभ्यास बढ़ावेगा उतना ही शान्त-स्वभाव हो सकता है । और यदि इस विषय पर ध्यान न दे तो क्रूर परिणामी भी हो सकता है ।

ससार में जितने स्वभाव हैं उन सब का संगठन नित्य-प्रति के अभ्यास से ही होता है ।

अतएव, अभ्यास मे सावधानी रखना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है ।

जिास मनुष्य ने अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त की है, वह बडा भग्यशाली है । वह इस पृथिवी पर सब कुछ कर सकता है और जो मनुष्य अपने आपको विजय नहीं कर सकता, अपने अभ्यासों से बाध्य है, वह किसी प्रकार का स्व-पर-हित साधक कार्य नहीं कर सकता, और न शान्त ही रह सकता है ।

शान्ति में अनेक गुण हैं । यह मनुष्य को कार्यशाली बना देती है ।

शान्त मनुष्य के विचार प्रौढ़ एवं गम्भीर होते हैं । वह एकान्त में बैठकर बहुत कुछ शास्त्र-मननादि कर सकता है ।

सांसारिक या पारमार्थिक जितने भी कार्य हैं. सब शान्त-चित्त मनुष्य से ही हो सकते हैं ।

इस शान्ति की खोज मे महात्मा लोग घर बार सब छोड़ कर वन का आश्रय लेते हैं ।

परन्तु हम गृहस्थों के लिये घर मे शान्ति स्थापित करना तथा चित्त को सदैव शान्त पवित्र रखना ही श्रेयस्कर है ।

शान्ति।

हमारी भगिनीगणों को इस विषय के महत्त्व को विशेष प्रकार से सोचना चाहिये।

अपने बालकों को शान्ति का उपदेश देकर उनकी प्रकृति को शान्त बना देना उचित है।

किसी प्रकार का कलह-काण्ड या झगड़ा-टण्टा करने का अभ्यास बालकों को न होने देना चाहिये।

इन्द्रियदमन का अभ्यास भविष्य जीवन को बहुत शान्त और सहनशील बना देता है।

भोली माताएँ अपने बच्चों को आवश्यकता से अधिक भोगाभिलाष दिखाती हैं और इसका योग मिलाती रहती हैं, यह बड़ी गलती है।

जन्म की चञ्चल प्रकृति भविष्य जीवन को अशान्त बनाती है। अतएव अपने बालकों को सीधी चाल चलने का अभ्यास करवाना चाहिये।

सरल-प्रकृति मनुष्य को चाहे जितना विभव प्राप्त हो या दैवयोग से कष्ट आ दबावे, परन्तु वह परिश्रान्त नहीं होता।

सुख का भोग भी शान्ति से भोगता है, उद्धत होकर सांसारिक मानसिक आपदाओं का संग्रह नहीं करता। इसी प्रकार विपत्ति के समय मे भी धैर्य को नहीं छोड़ता।
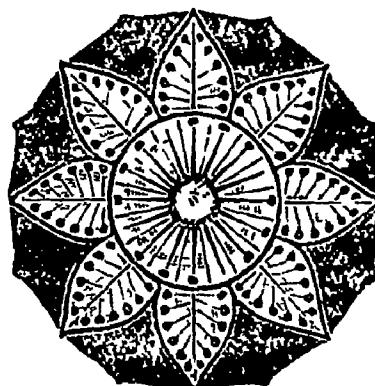
भय भी मनुष्य को अशान्त बना देता है। अतएव, भीरुपने का अभ्यास भी ठीक नहीं।

बहुत सी माताएँ अपने बच्चों को निरन्तर डराया करती

हैं, जिससे उनकी आदत घवड़ाहट की पड़ जाती है। यह भीतर की घवड़ाहट ऊपर से भी अशान्त वना देती है। अतएव वालकों के साथ ऐसा कोई वर्ताव माता-पिताओं को नहीं करना चाहिये जिससे उनका स्वभाव अशान्त हो जावे।

प्रकृति का सुधार-विगाड़ माताओं के हाथ में अधिकतर हैं, फिर आगे चलकर अपने अपने कर्माचरणानुसार मनुष्य शान्त अशान्त रहता है।

ओ३म् शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

सच्चा सुख ।

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहैं दुख ते भयवन्त ।

संसार में 'सुख' और 'दुःख' ये दो शब्द बहुत ही प्रसिद्ध हैं। बालगोपाल, युवा, वृद्ध, प्रत्येक प्राणी इन दोनों की परिभाषा में अवश्य ही सुपरिचित होंगे।

परन्तु वास्तव में सुख क्या है इस बात का यथार्थ वर्णन तथा साक्षात् अनुभवन करना अत्यन्त कठिन है। मनुष्यमात्र प्रायः अपने इच्छित पदार्थ के प्राप्त होने में सुख मानते हैं। परन्तु वास्तव में इच्छित वस्तु सर्वथा सुख देनेवाली नहीं है।

जिस प्रकार कोई मनुष्य राज्य-सिंहासन की इच्छा करता हो और उसे कर्मयोग से राज्यपद मिल जावे तो शायद वह अपने को कुछ सुखी समझ सकता है।

परन्तु एक चोर की चोरी रूप इच्छा की पूर्ति में यथेष्ट सुख कदापि नहीं है। वरन् चोरी प्रकट होने पर कारागृह का बड़ा भयानक दुःख है।

इसी प्रकार कुछ लोग सांसारिक भोगोपभोगों की अधिकाधिक प्राप्ति में सुख मानते हैं। इन लोगों का ख़याल है कि धन-दौलत माल-खजाना जिसके पास जितना ज्यादे होगा उतना ही वह मनुष्य अधिक सुखी होगा। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि विभव-प्राप्त मनुष्यों से "तुम सुखी हो या दुःखी हो" यह पूछा जाय और एक सिरे से वोट लेकर जाँच की जाय तो शायद सैकड़े पीछे दस मनुष्य भी ऐसे न मिलेंगे, जो अपने को सम्पूर्ण सुखी बतायेंगे। वरन् इन महात्माओं की कथा सुनी जावे तो दुःख की कथाओं के एक नहीं सैकड़ों पोथे बन सकते हैं।

किसी के एक पुत्र है तो दूसरे की चाहना सता रही है। किसी के पुत्रादि कुटुम्ब इच्छानुकूल है तो धन कम है। यदि धन भी पर्य्याप्त है तो पड़ोसी हमसे बढ़ने न पावें, इस बात की चिन्ता लगी है। अथवा जाति वाले हमसे विशेष बड़े न कहा सकें, इस बात की चिन्ता सताती है।

यदि ऐसा भी हुआ तो नाम-गाम की चिन्ता लग जाती है, यदि दैवयोग से पण्डित, बाबू, राय, राजा, सर, साहिब इत्यादि पदवियों को प्राप्त कर नाम भी प्रसिद्ध हो गया, तो तदनुकूल विद्या और ज्ञान की चिन्ता आ दबाती है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य इस पृथिवी पर अद्वितीय सर्वोत्कृष्ट होकर रहना चाहता है, और यह बात सृष्टि के नियम में है नहीं।

प्रकृति की महिमा इस प्रकार है कि "एक ऐसा है तो दूसरा अवश्य वैसा होगा। सर्वोत्कृष्ट पद इस भूमण्डल पर है नहीं, वह पद संसार से परे है"।

तब ऐसी अवस्था में प्राप्तविभवों से कैसे आनन्द मिल सकता है? कदापि नहीं।

किसी किसी का ऐसा विचार है कि भूतकाल या भविष्यत् काल में सुखानुभव न हो तो न सही, परन्तु वर्तमान में जब कि भोग भोगे जाते हैं, उस समय सुख अवश्य मिलता है।

इस बात का उत्तर इतना ही है कि सूक्ष्म दृष्टि से विचार कीजिये तो उस समय भी सुख नहीं है।

जब तक एक चीज मिलती नहीं तब तक उसकी चिन्ता रहती है और ऐसा मालूम होता है कि अमुक वस्तु को प्राप्त कर हम बड़े सुखी हो जायँगे, परन्तु जिस समय वह वस्तु प्राप्त हुई कि दूसरी वस्तु की चाह उत्पन्न होकर उसके सुख को धूल में मिला देती है। यह अटल नियम है। तथा इस बात का अनुभव प्रत्येक बुद्धिशाली आत्मा को भली प्रकार सदैव होता रहता है।

दृष्टान्त के लिये मान लीजिए कि एक दिन अपने समस्त भोजन में नमक न डाला जावे, तो उस समय जब कि ग्रास मुख में जाता है, सब पदार्थों से हट कर, रुचि नमक की तरफ़ हो जाती है।

न खट्टे का स्मरण रहता है, न चरपरे का; केवल नमक की

ही अभिलाषा लगी रहती है, परन्तु उसी समय यदि थोड़ा सा नमक लाकर भोजन मे मिला दिया जावे और खाना प्रारम्भ किया जावे तो ज्यों ही एक ग्रास मुख मे गया कि अब पहली वस्तु का स्वाद छोड़ कर मन दूसरी चीज के लिये दौड़ने लगता है। केवल नमक से प्राप्त होनेवाले सुख मे तन्मय होकर शान्त सुखी नही रहता।

प्रत्येक वस्तु की इच्छा का यही क्रम है। एक भोग से तृप्त न होते होते ही दूसरे भोग की अभिलाषा मनुष्य को आ दबाती है। इसी कारण सच्चा सुखानुभव नहीं हो सकता। वास्तव मे बाहरी वस्तुओ मे सुख ढूँढ़ना मनुष्य का भ्रम है। यदि ऊपरी चीज़े सुखदायी होतीं तो सब के लिये एक सी होनी चाहिये थी। फिर यह बात प्रत्यक्ष क्यो दिखलाई देती है कि उष्ण प्रकृति वाले को शीतल पवन आनन्द-प्रद मालूम होती है, परन्तु वही शीतल पवन शीत प्रकृति वाले को बहुत बुरी लगती है। यदि जाड़े का बुखार चढ़ा हो तो महाकष्टदायी प्रतीत होती है, इत्यादि दृष्टान्तो से प्रत्यक्ष दीखता है कि अन्य पदार्थ सुख दु ख देने में निमित्त मात्र हैं। केवल इन पर आत्मा का सुखी दु खी होना निर्भर नही है।

जिस प्रकार मरुभूमि में प्यासा मृग सफ़ेद सफ़ेद बालू के ढेर को देखकर, उसे पानी समझता है और पीने की इच्छा से छोड़ कर उसके निकट जाता है, परन्तु उससे प्यास नहीं बुझा सकता, उलटा खेद-खिन्न होकर दूसरी ओर दौड़ता है

इसी प्रकार हम संसारी जीव भी सुख की कामना से कभी इस विषय को ग्रहण करते हैं, फिर उससे हारकर दूसरे विषय को ग्रहण करते हैं। तो भी तृप्त नहीं होते। जब तक ऐसा पदार्थ न मिल जावे जिसमें तन्मय होकर दूसरी वस्तु की इच्छा न उत्पन्न हो, तब तक तृप्ति हो ही नहीं सकती।

अब प्रश्न यह होता है, कि ऐसा तृप्तिकर पदार्थ कौन सा है।

ऐसा पदार्थ केवल स्वात्मा है। 'सुखी होना' यह आत्मा का ही स्वभाव है। सुखानुभव जड़ का काम नहीं है। यह शक्ति सम्पूर्ण रीति से आत्मा मे ही भरी हुई है। जब आत्मा बलात् इस शक्ति को प्रकट कर लेता है, तब कभी दुखी नहीं होता। और न किसी पर-पदार्थ की ही आवश्यकता रखता है।

जिस प्रकार किसी योग्य चक्षु वाले मनुष्य को चश्मे की आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार जिस आत्मा ने अपने ज्ञान के बल से अपना अनुभव कर लिया है, अपने आपको पहचान लिया है, उस आत्मा के अन्तःकरण में ही परम अद्वितीय सुख का स्रोत सदैव बहता रहता है। फिर उसे पर-पदार्थ की आवश्यकता कदापि नहीं होती।

'अपनी पहचान' ही सच्चा सुख दे सकती है और कोई नहीं दे सकता।

यह अनुभव हो किस तरह से, ऐसा प्रश्न प्रत्येक पाठिका बहिन के हृदय मे उठना सम्भव है।

बहिनो ! आत्मानुभव सम्यग्ज्ञान से ही हो सकता है अन्यथा नहीं । प्रत्यक्ष में भी देखते हैं कि मूर्ख से ज्ञानी कहीं सुखी रहता है ।

बस यही ज्ञान ज्यों ज्यों बढ़ता जायगा, साथ साथ सुख भी बढता जायगा । जिस दिन यह ज्ञान सम्पूर्ण हो जायगा अर्थात् आत्मा जिस दिन सर्वज्ञ हो जायगा उसी समय सम्पूर्ण सुखी भी हो जायगा । "पूर्णज्ञानी पूर्णसुखी" इसी बात को अजर अमर करता जायगा ।

प्रत्येक आत्मा पूर्ण ज्ञान या पूर्ण सुख को प्राप्त कर सकता है, इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है । क्योंकि यह प्रत्यक्ष प्रमाण-सिद्ध बात है । हम लोग नित्य प्रति देखते हैं कि एक मनुष्य पहली अवस्था मे अत्यन्त स्वल्पज्ञानी था फिर वही मनुष्य प्रयत्न करके विद्याभ्यास करते करते या सदुपदेश सुनते सुनते कुछ दिन मे वह ज्ञानी हो जाता है, इसी प्रकार एक मनुष्य से दूसरा ज्ञानी है और दूसरे से तीसरा ज्ञानी दिखाई देता है ।

इस ज्ञान की हीनाधिकता से यह प्रकट होता है कि कोई वस्तु आत्मा के अन्दर भरी हुई है और वह हलके, भारी निमित्त को पाकर इसी प्रकार धीरे धीरे या जोर से प्रकट हो रही है ।

बस फिर यह सिद्ध ही है कि जो चीज़ धीरे धीरे निकल रही है वह बड़ा निमित्त मिलने से, पूर्ण प्रयत्न करने से

अवश्य सम्पूर्ण प्रकट हो जायगी और जब सम्पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जायगा उसी समय इस आत्मा को सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त होकर पूर्ण सुखी कर देगी।

यह आत्मीय ज्ञान मोह तथा ममत्व भाव से ढका हुआ है। जैसे जैसे यह मोह भ्रम दूर होता जायगा, आत्मसुख प्रकट होता जायगा।

जिस प्रकार उज्ज्वल शीशे में नाना प्रकार के रंग भरने से विविध प्रकार की झलक आ जाती है, शीशा अपना स्वभाव छोड़ कर रंग रूप में दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार आत्मा राग, द्वेष, मोह, क्रोधादि भावों के संयोग से तद्रूप दीखता है। और जिस प्रकार रंग साफ करने से शीशा उज्ज्वल हो जाता है, फिर कोई रंग उसमें दिखाई नहीं देता उसी प्रकार यह आत्मा जप, तप, ज्ञान, ध्यान के द्वारा जब अपने पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों को नष्ट कर देता है, तब तत्काल इसका आत्मसुख प्रकट होजाता है।

निजानन्द सुख में जब आत्मा तन्मय हो जाता है, तब फिर संसार के झंझट झगड़े उसे किसी प्रकार दुःखी नहीं कर सकते। इस आत्मा के पास राग-द्वेष-कामादिक किसी प्रकार फटकने तक नहीं पाते।

"जिसने रागद्वेष कामादिक, जीते सब जग जान लिया"

इस वाक्यानुसार यह विजयी आत्मा सब जग का ज्ञाता होकर निराकुल रहता है।

पण्डित दौलतराम जी कहते हैं—

"आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता विन कहिये।

वास्तव में आकुलता का अभाव हुए विना सुख नहीं हो सकता।

आकुलता शिव माहिं न तातें शिव मन लागो चहिये।"

यह आकुलता सम्पूर्णतया मोक्ष में नहीं है, अतएव वहां पूर्ण सुख है। तथा उसी सुमार्ग में इस सुख की गन्ध बढ़ती जाती है। और इसके विपरीत हिंसा, चोरी, कुकर्म, ईर्षा, द्वेष जो मोक्ष-मार्ग के विरोधी हैं, उनमें सुख का लेश भी नहीं है।

जिस प्रकार शराब के नशे में मनुष्य को किसी वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझना कष्टसाध्य हो जाता है, उसी प्रकार मोहादि परिणामों में लिप्त रहने से सच्चा आत्म-सुख प्रकट नहीं हो सकता और न सच्चा ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है।

जिन आत्माओं को सुख की कामना प्रकट हो जाती है, वे अपनी आत्म-सिद्धि के उपाय में लग जाते हैं। और इस प्रयत्न के विरोधी क्रोधादि कषायों को घटाने लगते हैं।

हमारी पाठिका बहिनों को भी चाहिये कि वे आत्म-सुख रूपी मिठाई का आस्वादन करने का अभ्यास करें।

व्याकुलता घटा कर शान्त चित्त से आध्यात्मिक ग्रंथों का अभ्यास करें। भारतवर्ष में आध्यात्मिक चर्चा के ग्रन्थ अति उत्तमोत्तम हैं, इनके मनन करने से आत्म-सुख झलकता है।

सच्चा सुख।

आधुनिक कतिपय पढ़े लिखे मनुष्यों का विचार है कि आध्यात्मिक चर्चा निष्प्रयोजन है। इससे कुछ सांसारिक लाभ नहीं है, इत्यादि।

परन्तु वास्तव में यह बात ग़लत है। अध्यात्म चर्चा का सम्बन्ध चाहे ऊपरी चीज़ो से न हो, परन्तु अन्तरात्मा को यह बलवान् बनाती है। जब तक अन्तरात्मा ज्ञानी न होगा ऊपर की उन्नति बिना नींव की दीवार है। समय पर कोई बात स्थिर न रह सकेगी।

योरूपादि देशों में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि उन्नति करते करते तनिक सी बात पर लोग सर्वस्व स्वाहा करने को तैयार हो जाते हैं।

जो शांति और न्याय-रीति आध्यात्मिक-रसास्वादी देशों में, मनुष्य के स्वभाव में, बिना प्रयत्न के आ विराजती है उस शान्ति और नीति के बुलाने में अन्य देश वालों को बड़े बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं।

यदि भारतवर्ष में आत्म-चर्चा न होती तो आज एक भी भारतीय रक्तवाला मनुष्य दीखना कठिन हो जाता।

मुसलमानी राज्य में कितने ही कष्ट सहन करने पर भी हिन्दू उनके ख़ून से नहीं मिले, यह अपनी रक्षा हिन्दुओं ने तलवार से नहीं की और न परतन्त्र राष्ट्र किसी प्रकार कर ही सकता था, परन्तु यह रक्षा आत्म ज्ञान ने ही की थी।

तथा, जब तक भारतवर्ष में आत्म-चर्चा रहेगी चाहे कैसा

ही नवीन युग प्रारम्भ हो, परन्तु यह अपना आत्म-समर्पण नहीं करेगा। अवश्य अपने रक्त को, अपने अस्तित्व को, बनाये रहेगा।

अतएव, पढ़े लिखे विद्वान् भाइयो को इस विषय में उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

वरन् जिस प्रकार शिथिल शरीर की सेवा तैल-मर्दन और वायु-सेवन या पुष्ट भोजन से की जाती है उसी प्रकार सासारिक घटनाओ से परिश्रान्त आत्मा को चगा और सुखिया बनाने के लिये समय समय पर आध्यात्मिक ग्रन्थों का अवलोकन करना भी परम आवश्यक है।

आचार्यों के वचन हैं—

आत्मान दृष्टे सति सर्वदृष्ट भवति, आत्मान ज्ञाते सति सर्वज्ञातं भवति।

अर्थात् आत्मा को देखने से ही सब वस्तुएँ दीख जाती हैं तथा आत्मा को जान लेने से ही सब पदार्थ जाने जाते हैं। जब हमे इस श्लोक का अनुभव हो जायगा,

आत्मस्वभाव परभाव भिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजाल प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥ १॥

तब दुख कहाँ, सर्वत्र सुख ही सुख दीखेगा।

बहिनो! जिस प्रकार मछली को पानी से निकाल कर कोई मखमली गद्दे पर रखदे या कैसा ही अन्य सुखद पदार्थ उसकी भेंट करदे, परन्तु जब तक उसको पानी न मिलेगा उसकी तडफन नहीं छूटेगी। उसी प्रकार, जब तक आत्मा को मोक्षावस्था प्राप्त न होगी, सुख की चाहना न मिटेगी।

जिस तरह अज्ञानवश मछली यह नहीं समझ सकती कि मैं क्यों तड़फती हूँ, जल का ज्ञान उसको स्वयमेव उस पर्याय में नहीं रहता। उसी प्रकार हम संसारी जीव भी यह नहीं समझते कि यह चित्तदाह किस चीज के लिये है? भ्रम से ऊपरी वस्तुओं की तडफन समझते हैं, परन्तु वास्तव में यह तड़फन है सच्चे सुख की।

अतएव हमारे सब भाई बहिनों का कर्त्तव्य है कि अपने आत्म सुख को खोजें, देखें, अनुभव करें।

सौभाग्य-रत्न-माला